राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत अखिलभारतीय तथा विशेषत राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम ए ,डी लिट्
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०५

सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

१९६९ ई०

वि० सं० २०२५ | भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८९०

मुद्रक—हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तिका सिंधुघाटी की लिपि को पढने के लिये किये गये मेरे प्रयत्नो के परिणामो का परिचय-मात्र करवाती है। स्वाहा के प्रथम अङ्क मे भी इसको प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु विषय के महत्व को देख कर, इसको एक पृथक् पुस्तक के रूप मे भी प्रकाशित करना उपयुक्त समझा गया है।

इस पुस्तक मे कुल मिलाकर लगभग ५०० मुद्राचित्रो एव मुद्रालेखो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा अन्त मे २४१ लेखो के पाठ पृथक् से दिये गये हैं। खेद है कि इन सभी मुद्राचित्रो अथवा मुद्राओ के ब्लॉक नहो तयार हो सके, अत उदाहरणार्थ केवल ५७ चित्रो के ही चित्र दिये जा सके है। लिपि का अध्ययन करते समय मुझे सिंधुघाटी मे जो चार लिपिया प्राप्त हुई हैं उनके नमूनो के चित्र भी छापे जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त वर्णमाला के जितने वर्णो की अभी तक पहचान हो सकी है, उनको भी इसी के साथ विद्वानो के सूचनार्थ दिया जा रहा है। इस समस्त अध्ययन-सामग्री का आधार भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग (आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया) द्वारा प्रकाशित निम्न-लिखित ग्रथ हैं —

(1) Mohenjodaro and the Indus Civilization
edited by John Marshal

(2) Further Excavations at Mohenjodaro
edited by F J H Mackay

(3) Excavations at Harappa
edited by M S Vats

सम्बन्धित चित्रो के उपयोग के लिये भारत सरकार के उक्त विभाग ने हमारी प्राथना पर हमे जो अनुमति प्रदान की है उसके लिये हम उक्त विभाग के हृदय से आभारी हैं।

बहुत सावधानी रखने पर भी, पुस्तक मे कई त्रुटिया रह गई हैं, विशेष रूप से कुछ अश छपने से छूट गया है इसको पृ० ४६ पर पक्ति १५ के बाद पढा जाना चाहिए, यह छूटा हुआ अश निम्नलिखित है —

विदेहजनक-ज्ञान और कर्म का समन्वय

उपर्युक्त चतुर्विध अत्रि के साथ एक समष्टिवर्ण में वृत्र, अपद्वय तथा मकारद्वय से युक्त 'अन' शब्द का समावेश है। व्यष्टिगत तथ्यो के सदभ में अपद्वय अन और अन्न की दृष्टि से क्रमश सूक्ष्म एव स्थूल अथवा आध्यात्मिक (ज्ञानमय) और भौतिक कर्म के द्योतक होते हैं तथा उनका स्रोतस्वरूप उभयात्मक मन दो मकारो द्वारा एव अद्वैत मन एक शीर्षाकार म-वर्ण द्वारा दिखाया जाता है । इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें हडप्पा से प्राप्त एक दोपहली मुद्रा[1] में प्राप्त होता है। इसमे एक शीर्षाकार मकार के नीचे दो चतुर्भुजात्मक सयुक्त मकार हैं जिनसे दो दडाकार अवर्णो से प-वर्णो को सयुक्त करके दो बार 'अप' लिखा गया है और इन दोनो के बीच मे 'अन' शब्द इस प्रकार लिखा गया है कि नकार से पर और अकार से मेरुदण्ड-सा बन जाय, और उसके ऊपर दो सयुक्त मकारो से वक्षस्थल तथा शीर्षाकार मकार से शिर का निर्माण करके एक पुरुषाकृति खडी करदी है जिसके दोनो ओर लिखे हुये 'अप' ऐसे लगते हैं मानो पुरुष अपने दोनो हाथो मे दो छडे लटकाये हुये हो।

उक्त मुद्रा के दोनो ओर इस प्रकार का एक-एक पुरुषाकार समष्टिवर्ण है और दोनो के साथ एक ही सा लेख 'अत्रि अम वृरश' (वृक्ष) लिखा है। परतु दोनों के साथ चित्र भिन्न-भिन्न हैं। एक के साथ एक ओर तो नाचते हुये दो वही व्याघ्र या सिंह हैं जो अन्यत्र ज्ञान एव कर्म के प्रतीक होकर लडते हुये[2] या अनान्न की सयुक्त इकाई (देह) को, एक दूसरे की ओर खीचते हुये दिखाये[3] गए हैं और दोनो को क्रमश 'वृत्रनागद्वय'[4] तथा '११ अन्न' अथवा 'अत्रि अग्नि'[5] एव 'ञान' (ज्ञान ?) नाम दिया गया है। उक्त पुरुषाकार समष्टिवर्ण इस ज्ञान-कर्म समन्वयशील प्रतीक की ओर बढता हुआ प्रतीत होता है। दूसरे सिरे पर एक पुरुष को शिर के बल इस प्रकार उलटा किया गया है कि वह एक सूखे वृक्ष के ठठ सा दिखाई देता है , और इसके मूलाधार से प्रस्फुटित होती हुई चार पत्तियों सहित एक नवीन शाखा बनाई गई है। जो छान्दोग्य उपनिषद्[6] के निम्न-लिखित वाक्य को चरितार्थ करती है —

---

(१) MEH plate XCIII, seal, 304
(२) वही, plate XCV, seal 454
(३) वही, plate LXXXV, seal 122
(४) वही ,,
(५) वही plate LXXXIV, seal 75
(६) छां० उ० ५, २, ६, ७ ।

यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात्, जायेरन् एव अस्मिन् शाखा प्ररोहेयु पलाशानि—अर्थात् यदि इस सत्य को किसी सूखे ठूठ से भी कह दिया जाय, तो उसमे भी शाखायें पैदा हो जावें और पत्ते निकलने लगें।"

इस महान त्रुटि के लिये क्षमायाचना करते हुये मैं विद्वान् पाठको से निवेदन करता हूँ कि वे कृपया मेरे प्रयास की सम्यक् समीक्षा करते हुये अपने-अपने वहुमूल्य सुझाव भेजने की कृपा करें। यद्यपि सिन्धुघाटी लिपि को पढने तथा मुद्राओ पर प्राप्त लेखो एव चित्रो का पूण रूप से अध्ययन करने के लिये अभी मुझे वहुत कुछ लिखना है, परन्तु यहाँ जो कुछ प्रस्तुत किया गया है उसका विद्वत्समाज द्वारा मूल्याकन हुये बिना आगे वढना ठीक नही होता। इस पुस्तिका के प्रकाशन का यही औचित्य है।

इस कार्य मे प्रतिष्ठान के सम्पादन तथा प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष सवश्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी तथा महोपाध्याय विनयसागर से मुझे बडी सहायता मिली है अत मैं उनको हृदय से ध-यवाद अर्पित करता हूँ। सन्दर्भ-पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री पद्मधर पाठक ने मेरे इस अन्वेषण-कार्य मे जो सौहार्द-पूण सहयोग दिया है, उसको भी नही भुलाया जा सकता और न साधना प्रेस के व्यवस्थापक श्री हरिप्रसादजी पारीक के प्रकाशन-सम्बन्धी वहुमूल्य सुझावो को विस्मृत किया जा सकता है। अत इन दोनो सज्जनो के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूं। सुश्री इला चौहान ने लिपि-सम्बन्धी ब्लॉको को तैयार करने में जो श्रद्धापूर्ण सहयोग दिया है उसके लिये उसको शुभाशीर्वाद देना भी मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

पौष शुक्ला पूर्णिमा, स० २०२५
जोधपुर (राज०)

फतहसिह

विषयानुक्रम

सङ्केतसूची

MFEM / MFE	Mackay Further excavation at mohenjodaro
MIC	Mohenjodaro and the Indus Civilization
MEH / MS E H	Madho Swarup Vats Excavations at Harappa

श्वे० उ०	=	श्वेताश्वतरोपनिषत्
तु० क०	=	तुलना करो
छा० उ०	=	छान्दोग्योपनिषत्
गो० उ०	=	गोपथब्राह्मण (उत्तरभाग)
गो० पू०	=	,, ,, (पूर्व भाग)
गो० ब्रा०	=	,, ,,
श०	=	शतपथब्राह्मण
श० ब्रा०		,,
बृ० उ०	=	बृहदारण्यकोपनिषत्
ऐ० ब्रा०	=	ऐतरेयब्राह्मण
ऐ० उ०	=	ऐतेरेयोपनिषत्
ऋ०	=	ऋग्वेद
ऋ० वे०	=	,,
मु० उ०	=	मुण्डकोपनिषत्
ष० ब्रा०	=	षड्विंशब्राह्मण
ता०	=	ताण्ड्यब्राह्मण
त०	=	तत्तिरीयब्राह्मण
तै० ब्रा०	=	,,
तै० उ०	=	तत्तिरीयोपनिषत्
तै० स०	=	तैत्तिरीयसंहिता
अ०	=	अथर्ववेद
अ० वे०	=	,,
कौ०	=	कौषीतकिब्राह्मण
म० भा०	=	महाभारत
मनु०	=	मनुस्मृति
आ०	=	आकृति
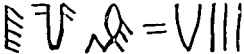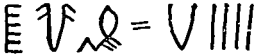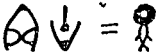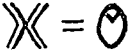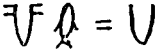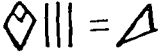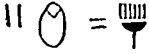
वर्णमाला		संश्लिष्ट वर्ण	
सिंधुघाटी	नागरी	सिंधुघाटी	नागरी
	ब		अग्नि
	म		इंद्र
	य		इंदु
	र		वृत्र
	व		मनु
	स		राष्ट्र
	श		अन्न
	ह		एकत्रित (एकत + द्वित + त्रित
	त्र		वषट्‌

EXCAVATIONS AT HARAPPA
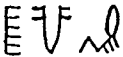
Volume II
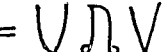
लिपि-द्वय

1 Pl XCVII 539

2 Pl XCVII 517

3 Pl XCVII 502

4 Pl XCVII 505

5 Pl XCVII 506

6 Pl XCVII 521

7 Pl XCVII 499

8 Pl XCVII 501
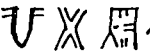
लिपि-त्रय
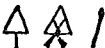
18. Pl XCVII 575

19 Pl XCVII 580

20 Pl XCVII 573

21 Pl XCVII 576

लिपि-चतुष्टय

22 Pl XCIX 635

सिंधुघाटी की लिपि मे
ब्राह्मणो और उपनिषदों के प्रतीक
१. परिचय

आधुनिक विद्वान् प्राय एक स्वर से सिंधुघाटी की सभ्यता को अवैदिक स्वीकार कर चुके हैं। अधिकाश इतिहासकार, उसे अविभाजित भारत की प्राचीनतम सभ्यता मानते हुये भी, अवशिष्ट भारत की सभ्यता से उसको नितात भिन्न मानते हैं। कुछ लोग तो इस भेद पर इतना जोर देते हैं कि उनकी सम्मति में यह प्रदेश अवशिष्ट भारत के हिन्दू साम्राज्य मे चद्रगुप्तमौर्य्य के शासन-काल को छोडकर, और कभी भी सम्मिलित[१] नही हुआ। इसी आधार पर डॉ० मॉर्टीमेर ह्वीलर[२] ने पाकिस्तान की सस्कृति को पाच हजार वर्ष पुरानी बताया है और उसकी प्राचीनतम (सिंधुघाटी) सभ्यता के विध्वसको मे उन विदेशी आर्यों की गणना की है जो आधुनिक हिंदुओ (आर्यो) के पूर्वज थे। इसी पद्धति के सदभ मे सिंधुघाटी की लिपि को, अवशिष्ट भारत की लिपियो से विपरीत, दाहिनी से बाईं ओर को लिखा हुआ माना गया और उसका सम्बन्ध प्राय अभारतीय लिपियो से जोडने का प्रयत्न किया गया[३]। इसी दिशा में चलते हुये, स्वर्गीय फादर हेरास तथा उनके शिष्यो ने सिंधुघाटी की तथाकथित अनार्य-सस्कृति के उन तत्वो को उद्घाटित किया जिन से मिलकर शाक्त, जैन, शैव, याग आदि की परम्पराओ का विकास[४] हुआ है। डॉ० कार्मारकर[५] की दृष्टि में ये सभी परम्पराए अवैदिक व्रात्य और सम्भवत द्रविड हैं, जब कि कुछ जैन-विद्वानों[६] ने इसी आधार पर, सिंधुघाटी की सस्कृति को अनार्य जैन सस्कृति तथा उसके विध्वसकों को बर्बर और हिंसक आर्य कहना प्रारम्भ कर दिया है।

---

(१) द्रष्टव्य—Green and Crescent in Pakistan

(२) द्रष्टव्य—Five Thousand years of Pakistan

(३) Marshal, Mackey and Vats in their works on Mohenjodaro and Harappa Exavacations See also Hunter, The Script of Harppa and Mohenjodaro, and its connection with other scripts

(४) La Religion de las proto Indians

(५) The Religions of India, Vol. I

ऐसी स्थिति मे सिंधुघाटी की सभ्यता में वैदिक तत्वों को देखना सम्भवत क्षम्य न समझा जाय, परन्तु श्री के० यन० शास्त्री[१] के शब्दो में 'हमे विदेशियो द्वारा गढी हुई प्रत्येक बात को स्वीकार कर लेना उचित नही। हमारे स्वतत्र विचार होने चाहियें ग्रौर दूसरो के मतो को स्वतन्त्र साक्ष्य की कसौटी पर कसने की क्षमता होनी चाहिये।' श्रीशास्त्री का यह कथन सिंधुघाटी सभ्यता के सदर्भ मे बहुत महत्त्व रखता है, क्योकि इस विषय मे अनेक ऐसे पूर्वाग्रहो की सृष्टि हो चुकी है जो हमे यह मानने का विवश करते हैं कि भारतीय सस्कृति के सभी प्रमुख तत्त्व तथा उनके स्रष्टा भारत के बाहर से आये। इसी के साथ वर्तमान युग की यह धारणा भी उक्त सस्कृति के मूल्याकन मे बाधक हुई है कि विज्ञानके समान ही, दर्शन तथा अध्यात्म के क्षत्र मे भी, मानव उत्तरोत्तर उन्नति करता चला आया है और प्राचीन युग मे सवत्र और सर्वदा उसका धम एव दर्शन जादू टोना तथा अन्ध विश्वास मात्र था। पिछले तीस वर्षों में अधिकाश समय मैंने इन्ही पूर्वाग्रहो के वशीभूत होकर सि धुघाटी-सभ्यता का मूल, भारत से बाहर, खोजने का प्रयत्न किया, परन्तु अत मे सब प्रयत्नो का परिणाम यही निकला कि इन पूर्वाग्रहो से मुक्त हुए बिना सि धुघाटी-सभ्यता का स्रोत जानना सम्भव नही।

सिंधुघाटी की लिपि

इसमें सन्देह नही कि सि धुघाटी-सभ्यता का रहस्य उसके मुद्रा चित्रो पर अङ्कित लिपि मे छिपा हुआ है। इस लिपि को फादर हेरास, डॉ० प्राणनाथ, स्वामी शङ्करानन्द, राजमोहननाथ तथा सबसे अधिक श्री सुधाशुकुमार रे ने पढने का दावा किया है, परन्तु अभी तक इनके प्रयत्नो का कोई स तोषजनक परिणाम नही निकल सका है। उदाहरण के लिए एक विद्वान् के अनुसार, मोहेनजोदरो के एक[२] मुद्राचित्र पर पशु की आकृति के ऊपर 'खासने वाला इकसिंगा' लिखा है, जब कि मरी सम्मति में वहाँ 'अत्रि अग्निमान अन' शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक को वैदिक दर्शन का पारिभाषिक शब्द माना जा सकता है। प्राय विद्वान् लोग यह मान कर चले हैं कि सिन्धुघाटी के मुद्राचित्रो पर एक ही लिपि प्रयुक्त हुई है, परन्तु मुझे अभी तक चार लिपियों का पता चल चुका है जिनमें से

(१) New Light on Indus civilization, Vol 1 p 5

(२) द्रष्टव्य M I C seal No 19 Sudhanshu Kumar Ray Memorandum No 1 Indus Script

तीन निस्सन्देह बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी[1] और सम्भवत एक को दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखा[2] जाता होगा। यद्यपि अभी तक सभी मुद्राचित्रों एव लेखों का अनुवाद सम्भव नही हो सका है, परन्तु अभी तक जो कुछ भी पढने में सफलता मिली है उससे इतना स्पष्ट है कि सिन्धुघाटी-सभ्यता में ब्राह्मण ग्रथो और उपनिषदों के प्रतीक प्रचुरता से उपलब्ध हैं। ये प्रतीक न केवल हडप्पा से प्राप्त मुद्राचित्रो में पाए गए हैं, अपितु इनका अस्तित्व उन मुद्राचित्रो पर भी पाया जाता है जो मोहेनजोदरो की निम्नतर एव निम्नतम स्तर की गहराई पर पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त इनके लेखो की विशेषता यह है कि अभी तक मुझे ऐसा कोई लेख नही मिला जो किसी न किसी दार्शनिक अथवा धार्मिक तत्त्व की ओर सकेत न करता हो। भविष्य के अनुसन्धान का क्या परिणाम हो ? इस पर अभी कुछ कहना कठिन है, परन्तु अब तक की उपलब्धियो के आधार पर मुझे सिन्धुघाटी-सभ्यता ब्राह्मण-ग्रथो और उपनिषदों के समय की प्रतीत होती है।

यह निष्कर्ष निस्सन्देह भारतीय इतिहास की कई मान्यताओ को धराशायी करता है। मोहेनजोदरो और हडप्पा के लेखो मे अग्नि, इद्र, इदु, वृत्र, वरुण, अज, अजा, श्येन, उमा, उषा, उखा, क, अन, अप आदि शब्दो का उन्ही अर्थों मे प्रयुक्त होना जिनमें वे ब्राह्मणो एव उपनिषदो में होते हैं, सिन्धुघाटी की सभ्यता को उत्तरवैदिक काल का सिद्ध करता है। इसके फलस्वरूप एक ओर तो सहिताकाल को ईसा से हजारों वर्ष पूव सरकाना पडता है और दूसरी ओर वैदिक लोगो के आदि देश की समस्या पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड जाती है। सिन्धुघाटी के लेखो से तद्दन, वषट् प्रणव आदि शब्दो की व्युत्पत्तियो पर तथा ब्राह्मणग्रथो में प्राप्त विचित्र समीकरणो अथवा पर्याय योजनाओं पर जो नवीन प्रकाश पडता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय योग, मन्त्र, तन्त्र, आगम, पुराण, शैवमत, शाक्तमत आदि का स्वाभाविक सम्बन्ध वैदिक परम्परा से जुडा हुआ है। इसमें सन्देह नही कि मेरे इन निष्कर्षों के विरोध में विद्वानो ने पहिले से ही अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर रक्खे हैं, परन्तु मेरा अनुमान है कि जैसे जैसे 'स्वाहा' में सिन्धुघाटी के मुद्राचित्रों एव लेखो की व्याख्या क्रमश निकलती जाएगी वैसे-वैसे वे प्रमाण निराधार सिद्ध होते

(१) देखिए लिपिद्वय पटल १ तथा लिपित्रय पटल २।
(२) देखिए लिपित्रय पटल ३।

जायेंगे। यह कार्य अवश्य बहुत समयसाध्य है, परन्तु इसके अभाव में समस्या का कोई निर्णायक हल निकलना सम्भव नही।

सिंधुघाटी का अवर्ण

आज से लगभग २६ वर्ष पूर्व इंदौर को 'वोणा' में और पुन इसके लगभग १५ वर्ष बाद लखनऊ की 'त्रिपथगा' मे मैंने इस प्रचलित मत का खंडन किया था कि वह हमारी प्राचीन लिपियो का विकास किसी चित्र-लिपि से हुआ है। कुछ उदाहरण देकर, वहाँ इस मत का प्रतिपादन किया गया था कि योरोप और एशिया को अधिकाश लिपियो का मूलाधार सामान्यत उच्चारण में प्रयुक्त अगों की *आकृति-विशेष है जो किसी ध्वनि-विशेष के उच्चारण करने में मुख के भीतर* या बाहर बन जाती थी। इस प्रसग में, विभिन्न लिपियों के अवर्णों की समीक्षा करते हुये, वहाँ यह निष्कर्ष निकला था कि मूलत दो प्रकार के अवर्ण प्रचलित थे—एक फारसी लिपि के अलिफ की तरह दडाकार और दूसरा दो वक्र रेखाओ से निर्मित फारसी ऐन अथवा ब्राह्मी अकार के समान। सिंधुघाटी के अकार के विषय में भी यह बात खरी उतरती है। वहाँ दण्डाकार अवर्ण तो प्रचलित है ही, परन्तु उसके साथ ही वक्र रेखाओं से निर्मित अकार या तो लबे खरबूजे की खडी आकृति का है अथवा वृत्ताकार हो गया है।

तीनो प्रकार के अवर्ण सिंधुघाटी में एक प्रतीक-परपरा से सबध रखते प्रतीत होते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (४, १, ३) के अनुसार निर्गुण आत्मा की पुरुषरूप में कल्पना की गई है जो सगुण होने पर क्रमश (१) अहनाम (२) आलिगनबद्ध स्त्री पुरुषसदृश तथा (३) दो पृथक् खडो, पति और पत्नी से अनेक प्रजाओ की सृष्टि है। सिंधुघाटी में इनमें से प्रथम का प्रतीक दण्डाकार, दूसरे का खरबूजाकार तथा तीसरे का वृत्ताकार अ माना गया प्रतीत होता है। अत प्रथम रूप में वह दडधारी पुरुष हैं और दूसरे मे उसके पास खरबूजाकार अवर्ण तथा तीसरे में वह वृत्ताकार अवर्ण से सयुक्त दिखाया जाता[1] है। श्वेताश्वतर[2]-उपनिषद् (४,३) का कथन है कि वह दण्डधारी होने से यद्यपि जीर्ण होने का भ्रम उत्पन्न करता है, परन्तु वस्तुत इसके भीतर (द्वितीय अवस्था के)

---

(१) द्रष्टव्य द्वितीय पटल।

(२) त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी।
त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्व जातो भवति विश्वतोमुख। (श्वे० उ० ४,३)

स्त्री पुरुष, कुमार-कुमारी का द्वैत बीजरूप मे विद्यमान है और इसीलिये वह (तृतीय अवस्था मे) जन्म लेते ही 'विश्वतोमुख' (नानारूप) हो जाता है। इससे पूर्व एक अन्य श्लोक[1] मे उक्त तीनो अवस्थाओ को क्रमश (१) अवर्ण (२) निहितार्थ अवर्ण तथा (३) अनेकवर्ण कहा गया है। इस प्रकार जब एक अवर्ण को 'निहितार्थ' होकर अनेकवर्णों के रूप में परिणत होने वाला कहा जाता है, तो वर्णमाला के रूपक द्वारा एक आत्मा में विश्व के समस्त नानात्व की सृष्टि का ही वर्णन अभीष्ट होता[2] है।

सिंधुघाटी की भाषा मे इस नानात्वमयी विश्वसृष्टि को 'नामरूप'[3] कहा गया है और इसके प्रतीकस्वरूप दो दण्डाकार अवर्णों का प्रयोग होता है, क्यो कि यह नामरूप 'अन' और 'अन्न' नामक दो तत्वो का ही सयुक्त[4] रूप है। छान्दोग्य-उपनिषद्[5] की भाषा मे यह 'अन' ही वैश्वानर आत्मा (प्राण) है जो सभी लोको, सभी भूतों और सभी आत्माओ मे अन्न खाता है। इस विश्व मे सर्वत्र प्राण (अन) अन्न के द्वारा गृहीत[6] है, अन ही आयतन[7] है, अन्न ही सब जीवो का शरीर[8] है जिसमें 'अन' नामक भूमा (श० १,१, २,६) निवास करता है। यह 'अन' ही शतपथ-ब्राह्मण के शब्दो मे अन्नाद[9] अग्नि है जिसे कभी-कभी 'अत्ता' या 'अत्रि' भी कहा जाता है (श० १०,६,२,२-४)। सिंधुघाटी मे इस अन्नगृहीत विश्वात्मा 'अन' को इन्द्र नाम भी दिया गया है और हड़प्पा से प्राप्त एक लेख[10] मे 'इन्द्र' शब्द को इस तरह से लिखा गया है कि एक पुरुष की आकृति बन गई है जिसके एक हाथ मे 'प' वर्ण है और दूसरे में 'उ' वर्ण। यह प वर्ण आत्मा की उस

---

(१) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देव स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु ॥ (श्वे० उ० ४,१)

(२) द्रष्टव्य-श्वे० उ० ४, २-४।

(३) MS Exavations at Harappa, plate XCVII, seal 532

(४) वही seal 505 तु०क०-छा०उ० ५,२, १ २।

(५) स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु आत्मसु अन्नमत्ति (५,१८,१)

(६) अन्नमेव ग्रह। अन्नेन हीद सर्वं गृहीतम् (श०, ४,६,५,४) तु०क०-७,५ १,१६, ७ ५,१,२०।

(७) अन्न वाऽआयतनम (श० ६ २,१,१४)

(८) अन्न वै सर्वेषां भूतानामात्मा (गो०उ० १,३)

(९) अन्नादोऽग्नि (श० २ १४,२८, २,२,४ १)

(१०) MS EX H, seal 599

'परा' शक्ति का द्योतक है जिसे उसकी 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया' कहा गया है (श्वे०उ० ६,८) और जिसके संयोग से ही वह आत्मा 'अन' तथा अन्न' की संयुक्त सृष्टि बनता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए हड़प्पा के उक्त लेख में इंद्र के पवणधारी हाथ के पास दो दंडाकार अवण बनाए गये हैं जिन्हें ऊपर 'अन' और 'अन्न' का प्रतीक बताया गया है। मानो इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उक्त दो दण्डाकार अवर्णों के पूर्व 'अन्नामो' समस्तपद लिखकर बतला दिया गया है कि ये दोनों दण्डाकार अवण क्रमश 'अन्न' तथा 'अम' (ज्येष्ठ प्राण[1]) के प्रतीक हैं। इसके विपरीत इंद्र के उवणधारी हाथ के पास भी 'अन्न' शब्द लिखा है, परन्तु यह 'अन्न' प्रथम अन्न से भिन्न है, क्योंकि प्रथम में खरबूजाकार अवण है जब कि दूसरे में दंडाकार अवर्ण। उवर्ण[2] सिंधुघाटी एवं वैदिक परंपरा में समान रूप से ज्योति का प्रतीक है, अत उसका संबंध एक दण्डाकार अवर्ण वाले सूक्ष्म अन्न से है, जब कि पहले का संबंध खरबूजाकार अवर्णवाले स्थूल अन्न से है। इस प्रकार सिंधुघाटी के लेखों में एक दार्शनिक परंपरा है जो विश्व की सृष्टि को अभिव्यक्त करती है।

यह दार्शनिक परम्परा दंडाकार अवर्ण के अतिरिक्त सम्पुटाकार प वर्ण से प्रारम्भ होती है। सिंधुघाटी के एक त्रिवृत मुद्रा[3]-चित्र में एक ओर एक पुरुष को एक पैर की एड़ी पर बैठ कर वीरासन लगाए और हाथ में दंडाकार अवण को लिए हुए दिखाया गया है और इसके सामने एक स्त्री झुकी हुई प वर्ण को दोनों हाथों से उठाए हुए है। इस अवर्ण की तुलना श्वेताश्वतर-उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्मरूपी अवर्ण से की जा सकती है जो 'शक्ति' के योग से अनेक वर्णों (नामरूप) को धारण करता[4] है और पवर्ण निस्सन्देह उस परा का पहला वर्ण है जो उस अवण की शक्ति का नाम[5] है। प वर्ण की कुछ ढली[6] हुई या पत्थर आदि

---

(१) तु०क०—अमो नामासि अमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठ श्रेष्ठो राजाधिपति (छा०५,६ ७) और M E H की plate XCVII 442 तथा 474 जहां क्रमश अम और अमा शब्दों की व्याख्या है।

(२) *MEH plate XCVII seal 539* में 'उ' को मा कहा गया है।

(३) Mackey, Further Exavacations at Mohenjodaro, plate XC, 9, 10, 11 etc

(४) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (श्वे० उ०, ४, १)

(५) परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे० उ०, ६, ८)

(६) Mackey further Exavacations at Mohenjodaro, plate xc 9,10 ,11

की आकृतिया भी मोहेनजोदरो से प्राप्त हुई हैं, इनमें से कुछ आकृतियो के एक पहल पर 'न' वर्ण बना हुआ है। प वर्ण से 'अ' का सयोग होने से 'अप' शब्द बनता हे जिसका अर्थ वैदिक भाषा मे 'कर्म' और 'जल' है, इसी प्रकार 'न' वर्ण के साथ 'अ' वर्ण का सयोग होने से 'अन' शब्द बनता है जो उपनिषद् की भाषा में प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान मे व्याप्त 'अन' है और मूल या पूर्ण (भूमा) प्राण[1] का द्योतक है। ब्राह्मणों मे अन शब्द यज्ञ[2] का भी वाचक माना गया है और सिंधुघाटी[3]-परम्परा में दो 'अप' के साथ 'अन' मिलने से यज्ञ का उद्भव माना गया प्रतीत होता है। प-वण की आकृति के एक पहलू पर कभी-कभी ज वर्ण और दूसरे पर न वर्ण बना मिलता है जिससे यज्ञ' शब्द की उस व्युत्पत्ति[4] की याद आ जाती है जिसके अनुसार उसे 'जन्' धातु से निष्पन्न माना जाता ह। वैसे एक से अनेकता में परिणत होना अथवा प्रजापति[5] का अनेक प्रजाओ के रूप मे ही जाना यज्ञ ह। अस्तु, एक अ वर्ण द्वारा परा-शक्ति के सयोग से प्राण (अन), कर्म (अप) तथा यज्ञ के अतर्गत आने वाला प्रसार (या सन्तान) सिन्धुघाटी और उपनिषत्-परम्पराओ में सामान्य रूप से मान्य प्रतीत होता है।

सिन्धुघाटी के जिस चित्र मे उक्त पुरुष और प्रकृति के क्रमश 'अ' और 'प' वर्ण का उल्लेख किया गया है उसमें स्त्री के पीछे उ' वर्ण रक्खा हुआ है और उसके पास ही एक पुरुष खडा हुआ है। निस्सदेह यह 'उ' वर्ण स्वय उस 'प' वर्ण का ही अर्द्धांश है जो उक्त अ-वर्ण के सपर्क में आने पर द्विधा विभक्त होकर दो उकारो की सृष्टि कर देता है, इन दोनो के अतिरिक्त इन दोनो उकारो का एक सयुक्त रूप भी सिंधुघाटी मे माना गया है जो उक्त दडाकार

(१) भूमा वा अन (श० १, १, २, ६) M F E Plate xc. 9 मे प-वर्ण के पार्श्व को तोड कर जो हठात अ वर्ण को डालने का प्रयत्न किया गया है वह भ्रामक है, वस्तुत प-वर्ण की आकृति ठीक मुद्रा ११ के समान है।

(२) यज्ञो वा अन (श० १, १, २, ७, ३, ९ ३, ३)

(३) M F E M plate xc 15 a–b जहां दो सयुक्त 'अप' के पास 'अन' शब्द बना कर पास मे यज्ञ लिखा है।

(४) स तायमानो जायते स यज्जायते तस्माद्यजुर्जो यजुर्ह्णो ह वै नामैतद्यज्ञ इति।
(श० ३, ९, ४, २३)

(५) गो० उ० २, १८, तै० १, ३, १०, १०, ऐ० २, १७ इत्यादि।

अ वर्ण के ऊपर रखा हुआ, अन्य उकारद्वय के साथ दिखाया जाता[1] है। ब्राह्मण[2]-ग्रंथो मे उ' (उक्) अग्नि, आदित्य तथा प्राणनामक ज्योतियो के नाम हैं, इन्ही को बृहदारण्यक-उपनिषद[3] मे क्रमश वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय पुरुष अथवा अग्नि, आदित्य और इन्द्र भी कहा गया है। सम्भवत उकार-सजन के प्रसग में अ वर्ण (निष्कल ब्रह्म) को उक्त पराशक्ति का नाम सिन्धुघाटी में 'उमा'[4] माना गया है, इसीलिए एक मुद्राचित्र[5] मे इन्द्र के साथ उमा भी लिखा है और एक पुरुष एक वृक्ष को एक 'उकार' प्रदान कर रहा है।

सिन्धुघाटी का यह वृक्ष नि सन्देह मानव-शरीर है जिसे बृहदारण्यक ३, ६, २८ मे स्पष्टत सागोपाग वृक्षरूप में वर्णित किया गया है। मोहेनजोदरो के एक मुद्राचित्र[6] मे मानव-शरीर को प्राणवृक्ष के रूप मे दिखाया गया है जिसका तना विशाल दण्डाकार अवर्ण है और उसकी प्रत्येक पत्ती की आकृति इस प्रकार बनाई है कि 'अन' शब्द लिख जाता है। इस वक्ष पर भी एक पुरुष अपनी एडी पर वीरासन जमाए हुए हाथ से नीच खडे व्याघ्र को उकार भेंट कर रहा है। मानव-शरीररूपी वृक्ष मे उपयुक्त तीन पुरुष अग्नि, आदित्य(वायु) इन्द्र (अथवा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय) हैं जिनमे से प्रथम दो क्रमश तृतीय के कर्ता एव ज्ञात रूप के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों मे कभी कभी सघर्ष भी सभव है, अत उक्त इन्द्र-उमा वाले वृक्ष[7] के पास दो पुरुष लडने पर तुले हैं और उनके हाथो मे जो शस्त्ररूपी वृक्ष शाखा है उसकी पाँच-पाँच पत्तियाँ क्रमश पच कर्मेन्द्रियो और पच ज्ञानेन्द्रियो की प्रतीक हैं। इन दोनों के बीच मे खडी बीच-बचाव करने वाली देवी सभवत उमा शक्ति है और वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ तृतीय पुरुष (इन्द्र) व्याघ्र को जिस आकृति के पास जाने से रोक रहा है वह दो अक्षरो का 'वन' शब्द बनाती है।

सिधुघाटी के इस 'वन' की तुलना केनोपनिषद्[8] के 'तद्वन' से की जा

(१) M F EM, plate XC, seal 13 a
(२) श० १०,५,१,४,१०,६,२,८-६, १० ६,२,१०,१०,४,१,२३।
(३) बृ०उ० १,५ ३ १३।
(४) उ निर्माति इति उमा, तु० क०—इन्द्र तथा उमा हैमवती के० उ० ३, १२।
(५) M F E M plate XC, seal 23 a
(६) वही, plate XC, VI, seal 522
(७) M F E M plate XC seal 23 b a, 24 b
(८) तद् ह तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्यम (के उ०४, ६)

सकती है जो अग्नि, वायु तथा इन्द्र के अतिरिक्त एक चतुर्थ पुरुष है और जिसको इन्द्र ही उमा की सहायता से जानता[1] है। सिंधुघाटी के चित्र मे भी इन्द्र तथा उमा का एक साथ आना इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है कि इस चित्र का 'वन' और उपनिषद् का 'तद्वन' उस तुरीय ब्रह्म के प्रतीक हैं जिसकी शक्ति से उक्त तीनो पुरुष शक्तिमान् हैं और जो सम्भवत शरीररूपी वृक्ष का व्यापक मूलाधार माना जाता था। जैसा कि आगे देखेंगे, सिंधुघाटी के मुद्राचित्रो मे 'व' वर्ण वरुण का बोधक होता है, और उसमे उपयुक्त 'अन' और 'अप' दोनो का सयोग[2] अभीष्ट है। वैदिक सस्कृत में 'अप' का अर्थ जल भी होता है, अत वरुण का सम्बन्ध जल से भी माना जाता है। यहां वन रूप वरुण का शत्रु बन कर जो व्याघ्र[3] उपस्थित है वह वस्तुत वृत्र है जिसे वैदिक साहित्य मे जल (आप) को आवृत करने वाला कहा जाता है। उसके विपरीत एक अन्य मुद्राचित्र[4] मे 'वन' की अ-वर्णरूपी दो पत्तियो को तोड कर एक को मुह मे दबाये और एक को पृथ्वी पर गिराये हुये जो पशु दिखाया गया है उसके ऊपर 'वृत्र वषट्' लिखा हुआ है। इसका अभिप्राय है कि यह ऐसा 'वृत्र' है जो 'वषट्' बन चुका है और वषट् का अर्थ है (जैसा कि आगे देखेंगे) कि जो छ देव वृत्र के आधिपत्य मे थे वे अब वरुण के आधिपत्य में आने से 'वषट्' कहे जाते हैं। इसी कल्पना को एक दूसरे ढग से एक अन्य मुद्राचित्र[5] मे मूर्तिमान् किया गया है। यहाँ पर एक वृक्ष के ऊपर एक स्त्री पुरुष के जोडे की धूमिल आकृतियां हैं और नीचे एक ओर एक व्याघ्र है तथा दूसरी ओर एक सर्प है एव इन दोनो वृत्रो[6] के बीच मे उपर्युक्त दो पृथक् उकार, एक सयुक्त उकारसहित दड तथा एक पृथक दडाकार अ वर्ण है। इसी चित्र के दूसरी ओर तीन पशु हैं जो क्रमश

---

(१) वही, ३,१ १२, ४,१-३।

(२) तु क० M F E M, Plate CI, seal 15 जिसके एक भाग मे एक ओर 'मन' और 'व (वरुण) अप' लिखा है तथा इन दोनो के बीच मे मानव हृदय की आकृति है, दूसरे भाग मे एक ओर हृदय की आकृति है और दूसरी ओर एक चतुर्भुज के भीतर चतुर्दिक अनेक स्थानो पर 'मन' लिखा है एव बीच में वरुण-सूचक व-वर्ण के साथ 'अत्रि' लिखा है।

(३) द्रष्टव्य Plate CX, 23 b, 24 b, 13 a, plate XCVI, seal 522 etc.

(४) M I C Plate CXII, seal 385 (मा० ७)

(५) MFEM, Plate XC 13 a and 13 b (मा० २)

(६) इन दोनों मे से प्रत्येक द्विविध होता हुआ माना गया है। इसीलिये, अन्य कई मुद्रा चित्रो मे दो व्याघ्र अथवा दो सर्प दिखाई पडते हैं।

गेंडा, हाथी और अश्व प्रतीत होते हैं। इन दोनो चित्रों मे दडाकार अ वर्ण के पास जो उकार-युक्त तीन आकृतियाँ दिखाई गई हैं वे निस्सदेह उपर्युक्त वही तीन पुरुष हैं जिन्हें वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय (अथवा अग्नि, वायु-आदित्य और (इन्द्र) कहा गया है और जो अवणरूपी तुरीय-ब्रह्म से उद्भूत हैं, इसके साथ ही वृक्ष पर स्थित स्त्री पुरुष उसी 'वन' या वरुण के प्रतीक प्रतीत होते हैं जिसको ऊपर 'अन' तथा 'अप' का सयुक्त रूप बताया गया है। यहा पर सभी पशु (हिंसक भी) अहिंसा के वातावरण को उपस्थित करते हुये वृत्र-प्रधान न होकर वरुण-प्रधान प्रतीत होने से वषट्' की स्थिति मे उपर्युक्त अवर्णाकार पत्तियाँ खाने वाले पशु की तरह ही प्रतीत होते हैं।

वरुण और वृत्र

सिंधुघाटी के वरुण और वृत्र का उक्त सबन्ध ब्राह्मण ग्रथो की मान्यता के प्रतिकूल नही है। वरुण[1] और वृत्र[2] एक ही धातु से बने हुये दो शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक का अर्थ है 'आवृत करने वाला', ये दोनो वस्तुत एक ही 'परा'-शक्ति के दो रूपातर हैं जिनमें से एक को प्रकाशमय आवरण तथा दूसरे को अधकारमय आवरण कहा जा सकता है। अत वरुण को उषा रूपी तीर के पख (पर्णानि) कहा गया है (ऐ०ब्रा० १,२५), और वत्र को अजन (श० ३, १,३, १५), एक प्रदीप्ततर[3] अथवा घोरसस्पर्श[4] अग्नि है, तो दूसरा पत्थर (अश्मान[5]) विश्वसृष्टि के लिये वरुण जितना उपयोगी है, उतना ही वृत्र भी, इसीलिये इन्द्र उसका वध कर के भी उसे सोम्य और असुय्य-रूपो मे जीवित रख कर उसका उपयोग करता[6] है। वरुण यदि प्रदीप्ततर अग्नि के रूप में बाहर प्रकाश और गर्मी देता है, तो वृत्र[7] भी जठराग्नि के रूप मे विराजमान हमारे खाये हुये

---

(१) यच्च वृत्वाऽतिष्ठत्तद्वरणोऽभवत्तं वा एत वरण सन्त वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण (गो०पू० १, ७)

(२) वृत्रोऽवा इद सर्वं वत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम (श०१,१,३,४)

(३) अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुण (श०२,३,२ १०)

(४) स यदग्निर्घोरसस्पर्शस्तदस्य वारुण रूपम् (ऐ०३,४)

(५) श०३,४,३,१३,३,६,४,२, ४ २,५, १५।

(६) तं द्वेधा बभिनत्तस्य यत्सौम्य न्यसतमास त चन्द्रमस चकाराथ यदस्यासुर्य्यमास तेनेमा प्रजा उदरेणाविध्यत (श १, ६,३,१७)

(७) यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्मा एवैतद वृत्रायोदराय बलि हरन्ति (श १,६,३,१७)

भोजन को हजम करता है। अत अन्नाद अग्नि वस्तुत वृत्र[1] ही है और वही है सोम जो देवो का अन्न कहा जाता है[2]। अत ब्राह्मण ग्रथो मे 'वृत्र' देवो का शाश्वत शत्रु नही है, वह जब देवो के प्रति विद्रोही होकर 'आप' और प्रकाश को सर्वथा आवृत करके उनके अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है, तभी वध्य होता है, परन्तु उसके वध से अभिप्राय केवल उसके रूपान्तरण करने—शत्रु से दास अथवा उपयोगी साधन बनाने से है। इसलिये वृत्रवध ध्वसात्मक क्रिया न होकर सर्जनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा इन्द्र विश्वकर्मा प्रजापति कहलाने का अधिकारी होता है—

इन्द्रो ह वै वृत्र हत्वा विश्वकर्माऽभवत्प्रजापति प्रजा सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत् (ऐ०ब्रा०४,२२)

अत वृत्रवध वस्तुत वृत्र-सहयोग है जिसमे वृत्र विरोध छोडकर उपयोगी दास अथवा सृजनात्मक शक्ति मे परिणत हो जाता है। यही माया[3], मात्रा, मातली है जिसकी 'मा' धातु-निर्माण की सूचक होकर सिधुघाटी में ऐसे वृत्र-प्रतीको के साथ प्रयुक्त होती है जो देवोपयोगी भाव व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, जो महिप अ य स्थानो पर विध्वस करता हुआ[4] अथवा स्वय भाले का शिकार होता हुआ[5] दिखाया गया है, कही-कही उसी[6] के सामने एक पात्र सा रक्खा हुआ है और वह सर्वथा शान्त प्रतीत होता है तथा उसके ऊपर जो लेख है उसमे अतिम शब्द 'मा' (अर्थात् निर्माण करने वाला) है। निर्माण अथवा सृजन का कार्य यज्ञ है, उसमे यदि वृत्र भी योग देता है तो सिन्धुघाटी परम्परा मे उसकी[7] सज्ञा 'वृत्र जश्न' अथवा 'वृत्र वषट्' हो जाती[8] है। इसके विपरीत, वरुण क्षेत्रीय (देवत्वप्रधान) प्रतीक भी यज्ञ विरोधी भावना का समावेश करने पर श्रोकार अथवा यज्ञ के शत्रु समझे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप मोहेन-

---

(१) स या हैवमेत वृत्रमन्नाद वेदान्नादो हैव भवति (श १, ६, ३, १७)
(२) वृत्रो वै सोम आसीत (श ३ ४, ३, १३, ३, ६, ४, २, ४, २, ५, १५)
(३) द्रष्टव्य—डा० फतहसिंहकृत वैदिक दर्शन (लोडर प्रेस प्रयाग) पृ० १५५।
(४) द्रष्टव्य—आ० ४५।
(५) द्रष्टव्य—आ० ४८।
(६) द्रष्टव्य—आ० ४६।
(७) M I C. Pl CX, 279
(८) आ० ७।

जो दरो से प्राप्त एक ताम्रमुद्रा[1] को ले सकते हैं जिसमे एक मेष से एक 'ऊ' बाहर निकल कर भागता हुआ दिखाया गया है और दूसरा उकार (ह्रस्व) उस मेष के शिर के ऊपर कुछ अलग सा प्रतीत होता है, इस मुद्रा पर लिखे हुए वृत्र शब्द के साथ तीनो प्रकार के अकारो द्वारा 'अन' शब्द तीन बार लिखा गया प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय है कि यह मेष मानव-व्यक्तित्व की उस स्थिति का प्रतीक है जिसमे वह तीन अकारो द्वारा अभिप्रेत तीनो स्तरो पर वृत्रत्व स्वीकार कर चुका है। इसी प्रकार अन्यत्र 'वृत्रप्राण अ'[2] तथा वृत्र-पचमना उष्ट्रमान'[3] शीर्षक वाले ताम्र मुद्राचित्रो का विषय भी वृत्र-प्रधान प्रतीत होता है।

दक्षिणावर्त और वामावर्त

वरुणत्व और वृत्रत्व की प्रधानता को व्यक्त करने के लिये, सिंधुघाटी के पशुप्रतीको का मुख क्रमश दक्षिणावर्त तथा वामावर्त[4] कर दिया जाता है। इस नियम का पालन यहाँ तक किया गया है कि जिस चित्र मे वृत्रत्वप्रधान प्रतीक को आवश्यकतावश दाहिनी ओर जाता हुआ दिखाया जाता है, उसमे भी उसका मुख अवश्य ही बाईं ओर मोड दिया जाता है। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उन मुद्राचित्रो मे प्राप्त होते हैं जिनमें वृत्रप्रतीक चीता[5] शरीररूपी-वृक्ष के अधिष्ठाता पुरुष के साथ चित्रित किया जाता है। यह चीता शरीररूपी वृक्ष से अन (प्राण) और अन्न की चोरी करने का प्रयत्न करता है और उसका अधिष्ठाता आत्मा 'अन' और 'अन्न' की रक्षा करता है, इस प्रसग मे एक लेख (अनाद्यस्तेन नमति[6]) के अनुसार चीते को झुकना पडता है और सभवत उसके झुकने पर, एक अन्य लेख के अनुसार सभवत उसका 'वृत्रअन्न' तथा 'वृत्रमन' सब बाहर निकाला जाता[7] है और अन्ततोगत्वा वह पराशक्ति के सूचक प-वर्ण के पास आकर पूर्णतया दक्षिणावर्त होकर शान्त[8] हो जाता है। इसी प्रकार

(१) MIC Pl CXVII, 2
(२) MIC Pl CXVII 1
(३) वही Pl CXVII, 3
(४) MIC Pl CXVII, 1-3, Pl CX, 304
(५) MIC, Pl CXI Pl CXI, 341, 353, 355, 357, Pl CXI, 352
(६) MIC Plate CXI, 357
(७) MIC Pl CXI 355 जहाँ वृक्ष पर बैठा हुआ एक पुरुष है और उसकी ओर मुख किये हुये शान्त चीते के शिर पर 'वृत्र अन्न मन' शब्द लिखे हुये हैं।
(८) MFEM, Pl XCVI, 518

वृत्रत्व का एक अन्य प्रतीक महिष है जो अपने वामावर्त[1] रूप मे नरसहार करता है, परन्तु दक्षिणावर्त रूप मे शान्त दिखाई पडता है और उसके सामने एक वरुणसूचक वकार की आकृति का पात्र होता है जिसे 'वरुणपात्र' कह सकते हैं।

स्वस्तिकद्वय तथा क्रॉस

वरुणत्व और वृत्रत्व की कल्पना का एक दूसरा रूप सिंधुघाटी मे प्राप्त स्वस्तिक के क्रमश दक्षिणावर्त तथा वामावर्त रूपो में देखा जा सकता है। मोहेनजोदरो और हडप्पा मे दोनो प्रकार के स्वस्तिको के चित्र अनेक मुद्राओ[2] पर पृथक-पृथक् मिले हैं। हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर इकट्ठे ४ वामावत[3] तथा दूसरी पर ५ दक्षिणावर्त[4] स्वस्तिक हैं। ५ दक्षिणावत स्वस्तिको के साथ 'वृत्र अनान्न अ वर्णत्रय' (खरबूजाकार) लिखा है और साथ मे एक वामावर्त चीते को प-वर्ण भेट करता हुआ एक पुरुष बना है जिससे सकेत मिलता है कि अन्न और अन्न तथा अ-वणत्रय द्वारा अभिप्रेत शरीरत्रय में व्याप्त पचविध (वामावर्त चीतारूपी) वृत्र को, प वर्ण द्वारा, पाँच दक्षिणावर्त स्वस्तिको के रूप मे वरुणत्व की ओर मोडा जा रहा है, क्योंकि वामावर्त स्वस्तिक वृत्रत्व की ओर मुडने का सूचक हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह कौनसा केन्द्र है जिससे बायें या दाहिने मुडने की बात यहाँ अभीष्ट है।

इसका उत्तर सिंधुघाटी के क्रॉस मे निहित है जिसकी अनेक मुद्रायें, मोहेन-जोदरो तथा हडप्पा दोनो स्थानो पर मिली हैं। कुछ विद्वानो[5] का मत है कि क्रॉस का चिन्ह सिंधुघाटी मे बाहर से आया, क्योंकि वह इतनी अधिकता से नही मिला जितना कि स्वस्तिक। परन्तु कुछ भी हो, क्रॉस को वामावत अथवा दक्षिणावर्त करने से ही स्वस्तिकद्वय का निर्माण होता है और ऊपर वरुणत्व एव वृत्रत्व के प्रसग मे सिंधुघाटी के प्रतीको मे दक्षिणावर्त एव वामावर्त होने की जो स्पष्ट सामान्य परपरा दिखाई पडती है, उसको देखते हुये यह मानना अधिक सगत प्रतीत होता है कि क्रॉस मानव व्यक्तित्व की उस केन्द्रस्थ स्थिति

(१) MFEM, Pl XCVI, 510
(२) द्रष्टव्य M I C, Pl CXIV, 500 515, MEH Pl XCV, 396 399, 392
(३) MEH Pl XCII, 278
(४) MEH Pl XCIII, 306
(५) Further Exavations at Mohanjodaro by Mackey, p 656,

का द्योतक है जिससे वामावर्त होकर वृत्रत्व के अंधकार की ओर जाया जा सकता है और दक्षिणावत हो कर वरुणत्व के प्रकाश की ओर भी। दक्षिणावर्त स्वस्तिक वरुण का प्रतीक है और वामावर्त वृत्र का, पर तु दोनो के बीच मे कौन (क) है ? इसका उत्तर है—क्रॉस जो सिंधुघाटी का क वण भी है और जिसका अथ होता है 'कौन' अथवा 'क्या'।

क्रॉस और मन

सिंधुघाटी का क्रॉस[१] कभी-कभी मन के मकार से घिरा हुआ होता है और उस मकार के भीतर चारो कोनो पर चार नकार बने हुये होते हैं। इसका अभिप्राय है कि मानव व्यक्तित्व की जो केन्द्रीय स्थिति क्रास द्वारा व्यक्त की जाती है उसको चारो ओर से मन घेरे हुये है जिसकी चतुर्विध गति को प्रकट करने के लिये अ यत्र[२] मकार के भीतर चार रेखाचतुष्टयात्मक पट्टियाँ रहती हैं। इन पट्टियो मे से, दो तो आडी रेखाओ की पट्टियाँ हैं जो क्रमश अ तमु खी और बहिमु खी प्रवृत्ति की द्योतक प्रतीत होती हैं और दो पडी रेखाओ की पट्टियाँ हैं जिन्हे क्रमश वरुणत्व और वृत्रत्व को दक्षिणावर्त तथा वामावत प्रवृत्ति को बतलाती हुई माना जा सकता है। इस प्रकार चार रेखा पट्टियो द्वारा मन की जिन द्विविध प्रवृत्तियो को व्यक्त किया जाता है वही ऋग्वेद[३] मे सभवत मनरूपी गाडी (अनोमनस्मय) के चक्र कहे गये हैं और उपनिषद्[४] मे क्रमश दैव और मानुष वित्त के नाम से जाने जाते हैं। मानव मन जब इन द्विविध प्रवृत्तियो से भी मुक्त होजाता है, तो उसको शुद्ध क्रॉस अथवा उडते हुये श्येन के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता है। अत एक मुद्राचित्र[५] के एक ओर क्रॉस बना हुआ दिखाया गया है और दूसरी ओर उडता हुआ श्येन। इसी स्थिति का सु दर चित्र हडप्पा[६] से प्राप्त एक मुद्रा मे है जहाँ यूप के सान्निध्य मे खडे एक व्यक्ति के शिर पर उडता हुआ श्येन ह और उसका शीर्षक ह 'अपच वृत्र यस्न' जिसका

(१) MEH Pl XCV 390, (देखिये विशिष्ट प्रतीक स० १)
(२) MEH Pl XCV, 389 (देखिये विशिष्ट प्रतीक स० २)
(३) अनो मनस्मय सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् (ऋ० १०,८५)
(४) बृ० उ० १, ४, १७, १५, १-३।
(५) देखिये विशिष्ट प्रतीक स० ३ (MEH, Pl XCI, 255)
(६) MEH Pl XCIII, 318

अर्थ है कि ऐसा यज्ञ जहाँ श्येन वृत्र के पाचो बधनो से मुक्त हो चुका है। इसी स्थिति को व्यक्त करने के लिये, मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्रा[१] पर एक योगी के शिर स्थित वषट् पर आरूढ प्रणव दिखलाया गया है और एक श्येन को उडता हुआ बताया गया है।

मानव-व्यक्तित्व मे मन का परिवेष्टन

क्रॉस के चारो ओर जो मन का परिवेष्टन दिखाया जाता है, मानव-व्यक्तित्व मे वस्तुत उसके ऊपर भी और परिवेष्टन होते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण विशिष्ट प्रतीक स० ४ मे देखा जा सकता है। यह प्रतीक कई शब्दो से बना हुआ समष्टिवर्ण है जिसमे ऊपर वकार रहित 'वृत्र' और उसके नीचे द्विविध 'मन' तथा उसके नीचे 'अन' लिखा है, 'अन' के दोनो ओर 'अप' शब्द 'मन' के द्विविध मकार से जुडा हुआ प्रकट करता है कि एक 'अप' केवल बौद्धिक है और दूसरा शारीरिक। इसी प्रकार वकाररहित वृत्र (अर्थात् ऋत्र) सभवत वृत्र के ऋतमय रूप की ओर सकेत करता है। अत यह समष्टिवर्ण प्रतीक मानव व्यक्तित्व के उस व्यावहारिक रूप का द्योतक है जिसमे वृत्र अपने विरोधी वृत्रत्व को छोडकर सहयोगी ऋतवान् रूप धारण करके द्विविध 'अप' (कर्म) उभयात्मक 'मन' तथा 'अन' का सेवक होकर रहता है। इसके विपरीत ऐसे भी प्रतीक[२] हैं जिनमे वत्र इतना बढ जाता है कि मन सर्वथा लुप्त (वृत्र द्वारा कवलित) हो जाता है और पूव-प्रतीक के द्विविध 'अप' को 'पाप' शब्द मे परिणत कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समूचे प्रतीक द्वारा 'वृत्रपापन्' शब्द बन जाता है। एक अ य[३] प्रतीक मे प्राण सूचक 'अन' शब्द भी नही रहता और केवल 'ऋत्रपाप' अवशिष्ट रह जाता है और अन्यत्र मानव व्यक्तित्व के अन, अग्नि आदि सभी अन्नभूत[४] हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका प्रतीक शिर-रहित बनाया जाता है। इस अवस्था में मानव-व्यक्तित्व को 'वृत्रमख' माना जाता है जिसका सुन्दर चित्रण एक ताम्रमुद्रा[५] मे प्राप्त है। इसमे एक ऐसे शिर-विहीन पशु का चित्र है जिसके पैर हाथी के हैं और रिक्त उदर-

(१) देखिये आ० ५३।
(२) देखिए विशिष्ट प्रतीक सख्या ५ (MEH, Pl XCII, 273, 282, 276)
(३) MEH, Plate XCII 284
(४) MIC, Plate CXVII, 9
(५) MIC, Plate CXVII 7

भाग में एक हृदयाकार वस्तु नौ बडे-बडे बिन्दुओ से घिरी है तथा शरीर के अगले और पिछले भाग मे भी ऐसे ही बिन्दु बने हुए हैं। पशु के सामने रक्खा हुआ वरुण-पात्र लगभग मकार-तुल्य हो गया जिसमे बने हुए 'ख' (छिद्र) उसे 'मख' में परिणत कर रहे हैं। पशु के नीचे स्पष्टत 'वत्र मख' लिखा है और पास में त्रिभुजाकार[1] आकृति के भीतर छ लकीरें खीच कर अनान्न और मन को सप्तधा विभक्त बताया गया है।

वृत्रवरुण मानव

इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व अप, अन, अन्न और मन का सघात है जो वृत्र और वरुण नामक दो छोरो के बीच उत्थान-पतन करता रहता है। वृत्र का प्रभाव जितना ही अधिक बढता है, उतना ही प्रतीक पशु[2] का शिरोभाग और वरुण पात्र क्षीण होते जाते हैं और सींगो मे अधिकाधिक वक्रताए आती जाती हैं। वृत्रत्व का सर्वाधिक प्रभाव दिखाने के लिए मोहनजोदरो में एक ऐसे वामावर्त पशु[3] की कल्पना की गई है जिसका पिछला धड और पैर तो अश्व या गाय जैसे हैं परन्तु अग्र भाग दो वक्र सीगो से युक्त मुर्गे जैसा है और उसकी सारी गर्दन पर से ही जैसे काटे दिखाए गए हैं। इस चित्र के ऊपर पराशक्तिसूचक पकार को पचधा विभक्त करके एक अ वर्ण के ऊपर स्थित करके मानव-व्यक्तित्व के विक्षेपाधिक्य की ओर सकेत किया गया प्रतीत होता है। इससे कम वृत्रत्व और विक्षेप रखने वाले व्यक्तित्व को बताने के लिए इसी पशुप्रतीक का एक दूसरा[4] रूप भी मिलता है जिसमें पशु का मुख फिर भी दक्षिणावर्त ह, सीग छोटे और कम वक्रता वाले हैं और गदन के काटे छोटे छोटे तथा ऊपर बना हुआ पकार अभी केवल दो ही भागो मे विभक्त है। इसकी तुलना एक अन्य ताम्रमुद्रा[5] पर अकित पुरुषाकृति से की जा सकती ह

---

(१) देखिए लिपिद्वय पटल।

(२) देखिए MIC Pl CXVII 8 और 12 जहाँ ताम्रमुद्राओं पर 'वत्रवरुण मख' लिखा है और साथ मे 'अनान्नमन' के सप्तविध विभाजन को बतलाने वाल चिह्न भी हैं। तुलना कीजिए MIC Pl CXVIII, 4 तथा XCIII, seal 9 वहाँ भी ऐसा ही लेख और प्रतीक प्राप्त हैं।

(३) MFE, Pl XCIX, 673 तुलना करो वही 670 जहाँ शिरविहीन वामावर्त पशु सर्वाधिक वक्रता वाले सींगों से युक्त दिखाया गया है।

(४) MFE Pl C seal D

(५) MFE Pl XCIII seal 14

जिसके शिर पर वरुणसूचक वकार, दाहिने हाथ में वृत्र-चिह्न तथा बाए हाथ में द्विधा विभक्त पकार और पीछे की ओर शिर तथा कटिप्रदेश मे ईषद्वक्र दो दण्डाकार अ वर्ण सम्भवत अन और अन्न पर वृत्रत्व के प्रभाव को व्यक्त कर रहे हैं। चित्र के नीचे लिखा है 'वृत्ररप ईस अ वर्ण—अवर्णजय यस' इससे प्रकट है कि यह चित्र ऐसे मानव-व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसमें वृत्ररप (वृत्र की पापप्रवृत्ति) पर मानवात्मा अपना नियन्त्रण रक्खे हुए है। एक दूसरी मुद्रा[1] में एक दाहिनी ओर को झुका हुआ मनुष्य है जिसके दाहिने हाथ मे धनुष, बायें मे 'अन', पगडी मे 'यज्जन' (यज्ञ ?) तथा उसके ऊपर सम्भवतः ब्रह्म सूचक उकार लिख कर उपनिषद्[2] के उस साधक का चित्र उपस्थित किया गया है जो प्रणवरूपी धनुष पर आत्मारूपी शर का सधान करके ब्रह्म को लक्ष्य बनाता है। इस अवस्था में वृत्रत्वशून्य होकर 'अन तथा अन्न' पूर्णतया वरुणत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

मानव-व्यक्तित्व के तीन पक्ष

सिंधुघाटी की परम्परा मे, एक दृष्टि से मानव व्यक्तित्व के तीन पक्ष मानते हुए, उसे 'अवणत्रय अनान्नद्वय म' कहा गया[3] है। यहा पर तीन स्थूल (खरबूजाकार) अवणत्रय क्रमश अन्नमय, मनोमय तथा प्राणमय पुरुष प्रतीत होते हैं जो निस्सन्देह अन (प्राण), अन्न और मन (म) के सयोग से निर्मित है। इस बात की पुष्टि उक्त लेख से सम्बद्ध मुद्राचित्र[4] से भी होती है। चित्र मे तीन पुरुषो को हाथ में क्रमश निम्नलिखित प्रतीको के दड पकडे दिखाया गया है—

(१) अनादान्न और त्रिशिरा प्रतीक
(२) सप्ति-वत्स प्रतीक
(३) वषट्पताका प्रतीक

इनमें से प्रथम प्रतीक में एक त्रिशूल के ऊपर सप्तछिद्रा टोकरी-सी रक्खी हुई है। इसकी तुलना उस वामावत त्रिशिरा चित्र[5] से कर सकते हैं जिस पर त्रिशूल

(१) MIC Pl CXVII, seal 16
(२) मु०उ०—प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्।
(३) द्रष्टव्य—MIC Pl CXVIII, seal 9 का लेख।
(४) वही।
(५) MIC, Pl CXII, seal 382

के ऊपर 'सप्त' सख्या लिखी है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वामावर्त चित्र वृत्रत्व के सूचक हैं , अत इस त्रिशिरा को ब्राह्मणग्रथो में वर्णित उस त्रिशिरा विश्वरूप[1] की प्रतिच्छाया माना जा सकता है जो त्वष्टा का पुत्र है और अपने तीन मुखो से क्रमश सोम, सुरा तथा अशन का सेवन करता है । इसके विपरीत सिंधुघाटी-परम्परा मे एक दक्षिणावर्त[2] त्रिशिरा की भी कल्पना है जो पहली से इस बात मे भी भिन्न है कि यहाँ तीन मुखो मे से बीच वाला मुख एकशृ गी पशु का है, जब कि पहले मे सभी मुख द्विशृगी पशुओ के हैं । दक्षिणावर्त त्रिशिरा के एक अन्य चित्र[3] के ऊपर कोष्ठक मे एक पक्षी बना है और साथ मे 'अग्नि-अन्न द्वय', 'सप्ताम्न-मन द्वय' तथा 'दमनाग्निद्वय' शीर्षक क्रमश तीन शिरों के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं । इससे स्पष्ट है कि वहाँ पक्षीरूपी आत्मा शरीर-रूपी कोष्ठक मे बैठा हुआ, दक्षिणावत त्रिशिरा के प्रतीक मे केवल भोक्ता ही (सप्ताम्रमन) नही, अपितु उसके साथ मे दमनाग्नि आदि का भी समावेश है ।

अत एव अन्नाद-अन्न प्रतीक दो प्रकार का बनता है—एक तो वामावर्त त्रिशिरा के अनुरूप जिसमे दण्डारूढ त्रिशूल रहता[4] है और दूसरा दक्षिणावर्त त्रिशिरा के अनुरूप जिसमें दण्डारुढ त्रिकोण अथवा प्याला सा रहता[5] है । इस प्रसग मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि दण्डारूढ त्रिशूल, हो अथवा त्रिकोण, दोनो के द्वारा 'अत्रि' शब्द बनता है जिसका अथ ब्राह्मणग्रथो[6] के अनुसार अन्न खाने वाला है। यह अत्रि स्वय वाक्[7] है, अत 'अत्रि' कहा जाने वाला 'अन्नमय' पुरुष वस्तुत वाङ्मय अग्नि[8] अथवा प्राण[9] है । यह अत्रि का देवरूप है, परन्तु इसके विपरीत एक राक्षसरूप अत्रि की भी कल्पना थी और तदनुसार 'अत्रिण'[10] शब्द का अथ राक्षस अथवा पापी किया जाता था । अत्रि की इस

(१) तस्य सोमपानमेवैक मुखमास । सुरापाणमेकम यस्मा अशनायैक । तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद (श० १,६,३,२) ।

(२) MFEM , Pl XCIX seal B XCVI, 494

(३) MFEM , Pl LXXXIII, seal 24

(४) MIC, Pl CVIII, 149 167, CX, 273, CIX, 221

(५) MIC, Pl CIX, 229–243

(६) वागेवात्रि वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिहि वै नामैतद्यदत्रिरिति (श० १४,५,२,२) ।

(७) वागेवात्रि (श० १४,५,२,२) ।

(८) स य स सोऽत्ताग्निरेव स (श० १०,६,२,२) ।

(९) प्राणो वाऽत्ता तस्यान्नमेवाहितय (श० १०,६ २,४) ।

(१०) अत्रिणो व रक्षासि (प० ब्रा० ३,१) पाप्मानोऽत्रिण (प०ब्रा० ३,१), रक्षांसि व पाप्मात्रिण (ऐ० ब्रा० २,२) ।

द्विविध कल्पना के आधार पर, सिंधुघाटी के उक्त द्विविध त्रिशिरा को समझना सरल हो जाता है। मानव-व्यक्तित्व स्थूल (अन्न) दृष्टि से वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय रूप में त्रिविध होता हुआ भी वस्तुत एक है, अत अत्रि (तीन नही) कहलाता है, परन्तु इस अवस्था में वह अन्न का अत्ता[1] या अन्नाद[2] भी है, अत 'अत्रि' शब्द को 'अद्' धातु से निष्पन्न मानकर उसमें अत्ता[3] या अन्नाद के श्लिष्टार्थ की भी कल्पना कर ली गई। देवरूप मे यह अत्रि त्रिशिरा एक ऐसा समवेत पशु है जिसमे सिंधुघाटी परम्परा के अनुसार अग्नि-अनद्वय, सप्तान्नमनद्वय तथा दमनाग्निद्वय का समावेश माना जाता है और ऋग्वेद[4] मे इसी को 'त्रिमर्घा' सप्तरश्मि' अग्नि कहा जाता है। राक्षसरूप मे वह त्रिशीर्षा 'सप्तरश्मि' अथवा 'षडक्षत्रिशीर्षा दास' कहलाता है जिसे इन्द्रप्रेरित त्रित आप्त्य[5] मारता है। यही ब्राह्मणग्रथों का त्रिशिरा विश्वरूप है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अस्तु, सिन्धुघाटी और वैदिक साहित्य मे समान रूप से त्रिशिरा के साथ सात की सख्या जुडी हुई है और यही उक्त 'अन्नादान्न' प्रतीक मे स्थित टोकरी के सप्त छिद्रो मे देखी जा सकती है। उपनिषदो और ब्राह्मणो मे अन्नो की भी सख्या सात है, अत उक्त अत्रि शब्द के सात की सख्या[6] से सात अन्न ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं और इन्हीं के सन्दर्भ मे ऋग्वेद मे त्रिशिरा को सप्तरश्मि कहा गया होगा। यह अन्न राक्षसो के लिए विरूप अथवा नानारूप ही बना रहता है (ता० १४,६,८) परन्तु देव लोग अन्नो की इस अनेकता मे एकता को ढूढते हुए वैश्वदेव (तै० १, ६, १, १०) अथवा आत्मसम्मित अन्न (श० ७, ५, १, १४) को भी प्राप्त कर लेते हैं जो सर्वथा रक्षा करता है, हिंसा नही। सम्भवत इसी बात को प्रकट करने के लिए दक्षिणावर्त (देवरूप) त्रिशिरा मे एकशिर एकशृगी पशु का भी रहता है और अन्यत्र जहाँ भी एकशृगी पशु का चित्र होता है उसके आगे प्राय 'अन्नादान्न' चिन्ह रहता है।

---

(१) अत्तिहि व नामतद् यदत्रिरिति (श० १४,५,२,२, १०,६,२,४)।
(२) श० २,१,४,२८, २२,४,१।
(३) श० १४,५,२,२, १०,६,२,२, १०,६,२४।
(४) ऋ० १,१४६,१।
(५) ऋ० १०,८,८, ६६,६।
(६) सप्त वा अन्नानि (ता० १,३,८,१)।

२ सप्तिवत्स प्रतीक—इस प्रतीक मे त्रिदण्डात्मक स्टैंड के ऊपर एक वत्स उस पशु का प्रतीत होता है जो अन्यत्र मोहेनजोदरो में एकशृंगी पशु के रूप में पाया जाता है, वत्स के चार पैरो और स्टैंड के तीन दण्डो को मिलाकर सप्त-सख्या बनती है, अत इस प्रतीक को सप्ति कहा गया है। एक अन्य[1] मुद्रा पर इसी पशु के साथ 'वायु' लिखा मिलता है और ब्राह्मणग्रथो में वायु को वत्स[2] तथा सप्ति[3] कहा जाता है। शतपथब्राह्मण[4] के अनुसार मन ही वायु हो जाता है और मन ही वत्स (श० ११, ३, १, १) है। अत इसको मनोमय पुरुष कह सकते हैं जिसे सिन्धुघाटी में वायुमुख अथवा यज्ञ कहा गया है। (MIC CXVIII, 12 b MFEM Cl 12-a)

३ वषट्केतु—तीसरे पुरुष के हाथ मे एक सदण्ड पताका है जिसे वषट्केतु कह सकते हैं, क्योकि पताका वकाराश्रिता तथा षट्छिद्रवाली है। शतपथ-ब्राह्मण[5] के अनुसार वाक् ही वषटकार है, क्योकि वाक् रेतस है जिसे सवत्सर प्रजापति षट् ऋतुओ मे सिञ्चन करके प्रजाओ को जन्म देता है यही वषट्कार है। सम्भवत इस प्रतीक के पुरुष का सवत्सर नाम सवत्स पर आश्रित है क्योकि इसके अन्तर्गत उपयुक्त वत्स (अथवा कुमार[6]) का समावेश माना जाता था। यह सवत्सर ही पितृमान्[7] सोम है जिसके लिए (उक्त वषट् के सदर्भ मे) षट्कपाल पुराडोश का विधान सार्थक है। मानव व्यक्तित्व के इस पक्ष को सिन्धुघाटी[8] मे 'इदु वृत्र मख' कहा गया है जिसका प्रतीक वरुणपात्र से युक्त दक्षिणावर्त सिंह या व्याघ्र प्रतीत होता है। इद का अर्थ सोम है और ब्राह्मण-ग्रथो मे भी वृत्र को (श० ३, ४, ३, १३, ३, ९, ४, १, ४, २, ५, १५)

---

(१) MIC, CXVIII, 12—b

(२) अयमेव वत्सो योऽय (वायु) पवते (श० १२, ४, १, ११)

(३) वायु सप्ति (तै० १, ३, ६, ४)

(४) मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ (श० ८, १, १, ७)

(५) वाग्वै वषट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति षड्वित्यृतवो वै षट तदृतुषु एवतद रेत सिच्यते तदृतवो इमा प्रजा प्रजनयति तस्मादेव वषट करोति।

(श० ब्रा० १, ७, २, २१)

(६) सवत्सरऽएव कुमारो भ्याजिहीर्षति (श० ११, १, ६, ३) सवत्सरवेलायां प्रजा वाचं प्रवदति (श० ७, ४, २, ३८)

(७) श० १, ६, ८, २, १, ६, ६, ५, श० २, ६, १, ४)

(८) MFEM Pl Cl, 12-c, MIC Pl CXVIII, 12-a

और सोम को 'सवृत'[1] (वृत्रसहित ?) कहा गया है। इन्द्र वृत्र के दो टुकडे करता है जिनमें से एक तो सोम कहलाता है और दूसरा जठराग्नि। अत मानव व्यक्तित्व के इस पक्ष को इन्द्र अथवा प्राणमय पुरुष कहा जा सकता है। यही वषट्केतु सिन्धुघाटी में देवो अथवा देवोपम व्यक्तियों के शिर पर लटकती दिखाई जाती है।

द्विशृंगी पशु और पुरुष

उक्त तीनो पुरुषो के पशु प्रतीको में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वाङ्-मय, मनोमय तथा प्राणमय से सम्बद्ध पशुओ में क्रमश द्विशृंगो, एकशृंगी और अशृंगी पशु पाया जाता है। यद्यपि उक्त स्थानो पर इस भेद के अतिरिक्त तीनो पशुओ के अन्य आकार-प्रकार भी भिन्न हैं, परन्तु सभवत ये तीनो पशु एक ही के रूपातर माने जाते थे। सिंधुघाटी मे जो सर्वाधिक लोकप्रिय पशु है वह प्राय एकशृंगी रूप में मिलता है और उसके सामने वही 'अन्नादान्न' प्रतीक रखा मिलता है जिसको मार्शल ने धूपदान कहा है। इसी पशु को एकाध स्थान पर (MEH, XCIII, 314) दो सीगो वाला और एकसीग वाला[2] भी देखा गया है। इनमें द्विशृंगी पशु की मुद्रा[3] पर एक ओर 'उकार अनान्न' लिखा है और दूसरी ओर 'वृत्रद्वयाग्निन् अन' शीर्षक है। इसका अर्थ है कि यह द्विशृंगी पशु उस वाङ्मय (अग्नि) पुरुष का प्रतीक है जिसमें ज्योतिसूचक उकार 'अनान्न' में परिणत हो गया है और अन्य दो पुरुषो (मनोमय और प्राणमय) का अग्नि आवृत (वृत्र) हो चुका है। इसके विपरीत एकशृंगी पशु मनोमय पुरुष का प्रतीक है जिसमे केवल एक ही (प्राणमय) पुरुष का अग्नि आवृत रह जाता है और अशृंगी पशु प्राणमय पुरुष का प्रतीक है जिसमे एक भी पुरुष का अग्नि आवृत (वृत्र) नही रहता, क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यहाँ पर इन्द्र वृत्र का भेदन करके उसे सोम और जठराग्नि मे परिणत कर देता है। इन तीनो पशुओं की तुलना उन पुरुषाकृतियो से भी की जा सकती है जिनको क्रमश द्विशृंगी[4], एकशृंगी[5] और अशृंगी[6] चित्रित किया जाता है।

(१) सोम एव सवृत (गो० ब्रा० १, २ २४), तै० स० १,६ ७।
(२) MIC, Pl CXVIII, 9, 12-a
(३) MEH, Pl XCIII, 314
(४) MEH, Pl XCIII, 319
(५) MEH Pl XCIII, 310
(६) MEH Pl XCIII, 308

द्विश्रृंगी पशु और वृक्ष

यद्यपि उक्त तीनो पशुओ के ऐसे उदाहरण मिल गए जिनमे सीग को छोड कर उनका अन्य आकार-प्रकार एकसा ही है परन्तु वृत्रत्व का आवरण जितना अधिक गहरा होता जाता है पशु के शरीर मे उतनी ही अधिक वक्रता, क्रूरता, स्थूलता एव जटिलता आती जाती है, यहाँ तक कि कभी कभी वह पशु ही दूसरा हो जाता है। उदाहरण के लिए जो पशु सर्वत्र एकश्रृंगी के रूप मे उपलब्ध है, वही जब दो सीग धारण करता है तो अन्य आकार प्रकार की समानता रहते हुए भी उसके सीगो के रूप-परिवर्तन के कारण ही बहुत परिवर्तन आ जाता है। अत एक[१] दक्षिणावर्त रूप मे उसके दो सीग हैं जो सिंधुघाटी के महावृषभ के ऊर्ध्वमुखी सीगो से सादृश्य रखते है तो उसके वामावर्त[२] रूप मे वे ही दो सुदीर्घ तथा पार्श्वमुखी हो जाते हैं। किसी दक्षिणावर्त रूप मे एकश्रृंगी पशु का शिर तथा श्रृंग बहुत ही सूक्ष्म[3] हो जाता है किसी मे अति स्थूल[४] और किसी किसी मे शिर की आवश्यकता ही नही समझी जाती[५] है। सामान्यत द्विश्रृंगी पशु गौर-नामक बैल के समान होता है और वह अन्नमय पुरुष का प्रतीक है जिसमे अन्य दो पुरुष (मनोमय और प्राणमय) सम्भवत अन्न से पूर्णतया आवृत माने जाते हैं तथा इसी तथ्य के ज्ञापनार्थ पशु के दो सीग बनाए जाते हैं, परन्तु जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, यह द्विश्रृंगी पशु शायद मूलत आकार-प्रकार मे सीग को छोड कर सर्वथा एकश्रृंगी पशु के समान ही था।

अत जब अन्नमय देह को एक वृक्ष का रूप दिया गया तो उसके अधिष्ठाता आत्मा की कल्पना द्विश्रृंगी पुरुषरूप में की गई[६] अथवा दो सयुक्त[७] एकश्रृंगी पशुओं के रूप मे की गई। श्वेताश्वतर-उपनिषद् मे भी एक अवर्णरूपी ब्रह्म के साथ शक्तियोग से जिस नानावर्णसृष्टि का उल्लेख[८] किया गया है उसको एक

---

(१) MFEM, Pl LXXXIX 359
(२) MIC, Pl CX, seal 302
(३) MFEM Pl LXXXIV, 85, LXXXVIII, 272
(४) वही, Pl LXXXIV 74, 68
(५) MFEM, Pl LXXXVII, 251, 247, Pl LXXXIX, 361
(६) MIC, Pl CXI, seal 356, 357
(७) MIC, Pl CXII, seal 387
(८) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (४ १)।

वृक्ष के रूप में देखा गया है। इस उपनिषद् के अनुसार "एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की अजा है जो अनेक सरूप प्रजाओं का सर्जन करती है और जिसका एक अज तो अजा का सेवन करता है, परन्तु दूसरा अज उस 'भुक्तभोगा' को छोड़ देता है। दो सुपर्ण सखा परस्पर सयुक्त होकर उसी एक वृक्ष का परिष्वजन कर रहे हैं, उनमे से एक तो स्वादिष्ट पिप्पल फल खाता है और दूसरा बिना खाए हुए देख रहा है। उस एक ही वृक्ष मे एक पुरुष निमग्न है जो 'अनीश' होने की भावना से युक्त होकर मोहग्रस्त होकर, शोक को प्राप्त होता है, जब उससे पृथक् अन्य ईश को प्रसन्न (जुष्ट) देखता है और उसकी महिमा को जान लेता है, तो वह वीतशोक हो जाता है।"[1] अज, अजा, ईश और अनीश आदि के विषय मे स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्वेताश्वतर[2] उपनिषद् का कहना है कि "यह विश्व क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्त का सयुक्त रूप है जिसका भरण-पोषण ईश (परब्रह्म) करता है, अनीश आत्मा भोक्तृभाव से युक्त होने के कारण बंधन मे पड़ता है तथा देव (ईश) को जान लेने पर सब बंधनो से मुक्त हो जाता है। ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश नामक दो अज हैं तथा एक अजा है जो भोक्ता के 'भोग्यार्थ' से युक्त है, जब ये तीनो प्राप्त हो जाते हैं (अस्तित्व मे आ जाते हैं), तब ब्रह्म इस (विश्व) मे परिणत हो जाता है, अन्यथा वह अनन्त आत्मा विश्वरूप होते हुये भी अकर्ता है।" अत स्पष्ट है कि विश्व में अजा के अतिरिक्त दो ही तत्त्व और हैं जिन्हे दो 'अज' अथवा प्रकारान्तर से दो सुपर्ण कहा गया है। इस त्रिविध विश्वरूपी वृक्ष का एक अकर्त्ता अनन्त 'आत्मा' और है जो[3] उक्त विश्ववृक्ष के समस्त प्रपञ्च का कारण होते हुये भी उससे परे है और जिसकी 'परा' शक्ति विविधा, स्वाभाविकी कही[4] जाती है। यही 'अकर्ता अनन्त आत्मा' वह एक ध्रुव 'अज' है जिसे सवतत्वो

---

(१) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ (श्वे० उ० ४, ५ ७)

(२) वही, १, ८, ६।

(३) स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् (वही ६,६)

(४) वही ६, ८।

(उक्तत्रितय) से विशुद्ध कहा जाता है और इसी की 'पराशक्ति' वह अजा है जो विश्ववृक्षरूपी प्रपच में 'भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता' कही जाती है। अत उक्त दो अज (ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश) इसी एक अज के द्विविध रूपांतर कहे जा सकते हैं जिसको सर्वप्रथम 'अ-वर्ण' कहा गया है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् के उक्त अज और अजा के सयोग से विश्ववृक्ष की उत्पत्ति और स्थिति का ही सुन्दर चित्र मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्रा[1] पर अकित है। उपनिषद के वृक्ष के समान यह वृक्ष भी, उसके पत्तो को देखते हुये, पीपल का पेड ही है और इसके तने से सयुक्त दो एकशृगी शिरो को उन दो अजो का सूचक माना जा सकता है जिन्हे उपनिषद् मे ज्ञ और अज्ञ पुरुष कहा गया है। निस्सदेह ये दोनों अज उसी एक ध्रुव अज के दो रूप हैं, इसीलिये संभवत इनका एक एक ही सीग है। इस वृक्ष का मूल वही दण्डाकार अ वर्ण है। इस दण्ड के ऊपर पीपल के पत्ते के समान एक त्रिभुजाकार आकृति है जो दो 'ज'-वर्णों के सयोग से बनी है, इस प्रकार दड सहित यह त्रिभुजाकार आकृति दो अजों का सयुक्त रूप बन कर उपनिषद के उस सयुक्त सृष्टि का बीज बन जाती है जिसे व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर विश्व'[2] कहा गया है। दडारूढ त्रिभुज के ऊपर स्थित वृत्ताकार अ मिलने से अजा शब्द बन जाता है और उसके इस सयुक्त तत्व मे त्रिभुज की तीन भुजाए उन तीन वर्णों (लोहित, शुक्ल और कृष्ण) की द्योतक प्रतीत होती हैं जो अजा[3] के भीतर समाविष्ट माने गये हैं। दडारूढ त्रिभुज से उद्भूत पीपल वृक्ष के पत्ते ही इस अजा की वे सरूपा (त्रिभुजाकार) प्रजाएँ हैं जिन्हे उपनिषद् की अजा उत्पन्न करती हुई कही जाती है।[4] इस अजा की तुलना सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से की जाती है जिससे *उत्पन्न समस्त सृष्टि उसी की भांति (सरूप)* त्रिगुणात्मक होती है। इसी के प्रतीक-स्वरूप मोहेनजोदरो से प्राप्त उन त्रिभुजाकार अथवा शकुवत वस्तुओ को लिया जा सकता है जो सभवत चैतन्य प्रतीक दड पर आरूढ करके प्रदर्शित की जाती[5] थी। यह अन और अन्न, देही और देह अथवा चतन्य और जड की

(१) Mohenjodaro and Indus Civilization Vol I, Plate CXII, seal 387, (प्रा० ८)

(२) सयुक्तमेतत्क्षरमक्षर व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीश (श्वे० उ० १, ८)

(३) अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा (श्वे० उ० ४, ५)

(४) बह्वी प्रजा सजमाना सरूपा (वही ४, ५)

(५) देखिये MFEF, Plate CIV मे १० और ११, (प्रा० ६)

सयुक्त इकाई का प्रतीक था। एक दूसरा ढग इस सयुक्त (शक्ति शक्तिमान्) तत्त्व को व्यक्त करने का था ज्योति युक्त दीपक के प्रतीक द्वारा। उपनिषद्[1] ने इसी को 'दीपोपम' आत्मतत्त्व कहा है, और यही हम आज भी आरती दीप तथा उन अन्य ज्योति दीपो के रूप मे अपने यहाँ पाते हैं जिनको नवरात्र, दिवाली, दशहरा आदि के पूजन-पाठ के अवसर पर रक्खा जाता है। मोहेनजोदरो[2] मे भी दोपावली के दीपो की भाँति अनेक लघु दीपो का पाया जाना इसी प्रथा का द्योतक प्रतीत होता है। सिंधुघाटी के न-वर्ण के भीतर दण्डाकार अ वर्ण को रख कर भी यह प्रतीक[3] बनता है। इसी प्रतीक मे जब 'अप' (कर्म) को और सम्मिलित किया जाता है, तो अग्नि शब्द के शिर पर एक केन्द्रस्थ छिद्रसहित वृत्ताकार अ वर्ण[4] रख दिया जाता है। सिंधुघाटी मे केन्द्रस्थ छिद्रसहित जो अनेक वृत्ताकार[5] पदार्थ मिले हैं वे सभवत इसी प्रतीक की प्रतिकृतियाँ हैं।

अन और अन्न के इसी सयुक्त तत्त्व को हडप्पा से प्राप्त एक सुदर मुद्रा मे देखा जा सकता है। इस मुद्रा के एक ओर लिखा है 'उकारत्रयान्न जश्न' और दूसरी ओर एक उल्टे उकाररूप पीपल-वृक्ष पर ग्यारह पत्ते हैं और उकार के भीतर एक पुरुषाकृति है जिसके शिर पर उक्त पीपलवृक्ष को स्पर्श करते हुये तीन दडाकार अ-वर्ण त्रिशूल सा बना रहे हैं। उकारत्रय वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय पुरुषो अथवा अग्नि, वायु (आदित्य) एव इद्र ज्योतियो के प्रतीक है जो चित्र मे पुरुषाकृति के शिर पर स्थित तीन दडाकार अ वर्णों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। उकाररूप पीपलवृक्ष का आवरण और उसके ११ पत्ते उन सात अन्नो[6] और चार वित्तो[7] की समष्टि के प्रतीक प्रतीत होते हैं जिन्हे उपनिषदो मे प्रजापति के मेधा एव तप की सयुक्त उपज कहा जाता है। विश्वात्मा उक्त त्रिविध ज्योतिस्वरूपो द्वारा उक्त अन्नवित्त समष्टि की आहुतियो को ग्रहण कर रहा है—यही 'जश्न' अथवा यज्ञ है। इसी अर्थ मे 'अन' को भूमा कहने के साथ-

---

(१) श्वे० उ० २, १५
(२) M F E M plate CXI, seal 1 (आ० ३)
(३) MEH plate XCVII 521 etc (लिपिद्वय पटल १)
(४) वही seal 521 (लिपिद्वय पटल १)
(५) वही XCV, seal 409
(६) बृ० उ० १, ५, १-२
(७) वही १, ४, १७।

साथ यज्ञ[1] भी कहा गया है, क्योंकि बृहदारण्यक-उपनिषद्[2] के शब्दो में 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन'—ये उसी एक चैतन्य तत्त्व के रूपातर हैं जो समस्त अन्न का भोक्ता बनकर सप्तर्षियो के यज्ञ का मूल कारण बनता[3] है। अत एव उक्त 'उकारअयान्न जश्न' वाला पीपलवृक्ष वस्तुत अन्नाद अन्न का सयुक्त प्रतीक है जिसकी तुलना आकृतिसख्या ८ पर अकित वृक्ष से की जा सकती है, क्योकि इसमे भी दडारूढ त्रिभुज उक्त सयुक्त तत्त्व का द्योतक है और उसमे भी पत्तियाँ ११ हैं। दडारूढ त्रिभुज (अजा) के ऊपर, दो सग्रीव एक-शृ गी शिर धनुषाकार आकृति बनाते हुये परस्पर जुडे दिखाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक शिर अ वर्ण का सूचक है और शृगसहित ग्रीवा ज वर्ण[4] बनाती है, इस प्रकार सग्रीव एकशृगी शिरों के माध्यम से दो स्थानों पर 'अज' शब्द बन जाता है। साथ ही दडरूप 'अ' के साथ ही कान, सीग और शिर द्वारा 'श' मुख से लेकर समस्त गर्दन-भाग द्वारा व तथा व के भीतर एक एक लघु गोलाकार मे दड जोडने से 'इन' बन गया है, इन सभी अक्षरो को मिलाने से अश्विन शब्द बनता है। इस प्रकार दो सग्रीव शिरो द्वारा 'अजौ' तथा 'अश्विनौ' दोनो का निर्माण हो जाता[5] है। इस प्रसग मे यह भी स्मरणीय है कि उक्त दोनो अजो की भाँति अश्विनौ भी सयुक्त सखा हैं जिनसे पृथक् न होने की प्रार्थना[6] की जाती है। उपनिषद् के उपर्युक्त श्लोको मे, इन्ही दोना को 'द्वा सुपर्णा' भी कहा गया प्रतीत होता है, क्योकि ये दोनो सुपर्ण भी अजो के समान 'सयुक्त' (सयुज) सखा हैं, और जिस प्रकार एक अज अजा का सेवन करने वाला है और दूसरा उसका त्याग करने वाला है, उसी प्रकार एक 'सुपर्ण' भी अजारूपी प्रकृतिवृक्ष के फलो को खाता ह और दूसरा केवल देखता ह। इसी प्रकार सुपर्णों के साथ अश् धातु (तु०क० अश्नन) का प्रयोग करके अश्विनौ के साथ उनका तादात्म्य सबध होना भी बता दिया है। सभवत पर्णों की भाँति वृक्ष से जुडे होने के कारण ही इन्हे सुपर्ण (सुदर पत्ते) कहा गया हो। उपनिषद् के अगले श्लोक मे, इन्ही दोनो सुपर्णों को दो पुरुष कहा गया है जो सुपर्णों की भाँति एक ही वृक्ष पर

---

(१) भूमा वा अन्न (श० १, १, २, ६) यज्ञो वा अन्न (श० १, १, २, ७, ३, ६, ३, ३)
(२) १, ५, ३।
(३) बृ०उ० २, ४, ३४।
(४) ज अक्षर के लिये, देखिये आगे 'संबंधित लिपि-सकेत'।
(५) वही
(६) मा नो वि यौष्ट सख्य मुमोचतम (ऋ ८, ८६, ५)

(समाने वृक्षे) हैं जिनमे से एक ईश है और दूसरा अनीश प्रतीत होता है। उक्त उपनिषद्[1] ने स्वय स्पष्ट कर दिया है कि ये दोनो पुरुष ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश हैं तथा इन्ही को अजा से सबधित दो अज कहा गया है।

अत कह सकते हैं कि दो अजो, दो सुपर्णों, दो अश्विनो तथा दो पुरुषो के लिए सिन्धुघाटी के मुद्राचित्र १ मे सग्रीव एकशृगी शिरो की जोडी रक्खी गई है। इस प्रकार कई कल्पनाओ को एक मे सम्मिलित करना वैदिक कवि के लिए कोई आश्चर्य की बात नही क्योकि पहले ही ऋग्वेद मे पूषा देव को अजाश्व[2] कहा जाता है और अश्व को श्येन के पक्षो से युक्त[3] तथा मरुतो को अश्वपर्ण[4] बताया जाता है, स्वय अश्विनो[5] की गति श्येन के समान है और दधिक्रा अश्व[6] हस है तथा उसकी तुलना श्येन से भी की गई है। फिर भी एकशृगी शिर की बात अद्भुत प्रतीत हो सकती है, परन्तु यदि इसे वास्तविकता पर आधारित न मान कर पूर्ववत् कवि-कल्पना पर आश्रित माना जाय तो इसमे कोई अनोखी बात नही रह जाती। ऋग्वेद के कवियो ने कई सदर्भो मे एकशृग की ही कल्पना की है। उदाहरण के लिए, गायो का एक ही सीग (ऋ ५,५९, ३) है। अग्नि[7] का भी एक ही सीग है और सोम देवता का तिग्म शृग (९, ८७, ७, ९, ५, २) भी एक ही है। ऋ० १, १६३, ८ मे वर्णित अश्व भी हिरण्यशृग है और उसे 'अवर इन्द्र' भी कहा गया है। इसलिये सिंधुघाटी के एकशृगी पशु के दो शिरो को उपनिषद् के दो अज, दो सुपर्ण, दो अश्विन अथवा दो पुरुष मानने मे कोई असगति नही है। इसका अभिप्राय है कि वेद में एक ऐसे एकशृगी की कल्पना की गई थी जिसे पशुओ का भी प्रतीक माना जाता था।

वस्तुत यह कल्पना वैदिक और सिंधुघाटी परपरा मे एक सी मान्य है। दोनो में एक ऐसे पशु की कल्पना की गई थी जो सभी पशुओ का प्रतिनिधि माना जा

---

(१) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
(श्वे० उ० १, ९)
(२) ऋ० १, १३८, ४, ६, ५५, ३-४, ६, ५८, २, ९, ६७, १०।
(३) ऋ० १, १६३, १।
(४) ऋ० १, ८८, १, ६, ४७, ३१।
(५) ऋ० १, ११८, ११, ५, ७८, ४।
(६) ऋ० ४, ४०, ३।
(७) ऋ० ६, ६०, १३, ५, २, ९।

सके । मैत्रायणीसहिता[1] (२. ५. ९) के अनुसार, अज सभी पशुरूपों का प्रतिनिधित्व करता है—इसमें पुरुष के श्मश्रु, अश्व का शिर, गर्दभ के कान, कुत्ते के रोम, गो के अगले पैर और भेड के पिछले पैर हैं, अत अज में सभी पशुरूप आ जाते हैं और अज उन सब का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सिंधुघाटी के एकश्रृंगी[2] पशु मे सभवत ऐसे ही अज-विशेष को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है—उसके निचले जबडे के नीचे जो गहरी और उभरी हुई रेखायें हैं वे पुरुष की श्मश्रु हैं, शिर की तुलना अश्वशिर से तथा कान की गधे के कान से हो ही सकती है और उसकी रोमावलि, अगले पर एव पिछले पैर क्रमश श्वान, गो, एव भेड के माने जाने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। यह पशु मुद्राचित्रों मे सर्वत्र एक-सा नही है, कही श्मश्रुविहीन चिकने सीग और चिकनी गदन वाला[3] है, तो कही श्मश्रुयुक्त खुरदरे सीग तथा खुरदरी गदनवाला[4] है, कही उसके ऊपर एक पक्षी चित्रित[5] है और कही दो पक्षी[6]। प्राय सर्वत्र इस पशु के आगे एक दडारूढ त्रिभुज के ऊपर चतुर्भुज अथवा पिरामिड-सा रक्खा हुआ है, परन्तु कम से कम दो चित्रों[7] में यह चिह्न बिल्कुल नही ह। एक स्थान पर इसके बदले[8] केवल दडारूढ त्रिशूल और एक अन्य स्थान[9] पर इस त्रिशूल के ऊपर चतुर्भुज भी रक्खा हुआ है। इस विविधता का अभिप्राय यही हो सकता ह कि यह एकश्रृंगी पशु सर्वत्र एक ही पशु का प्रतिनिधित्व नही करता, अथवा विभिन्न स्थानो पर उसका अथ भिन्न भिन्न है। यही बात वैदिक अज के लिये भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिये, उपर्युक्त श्वेताश्वतर-उपनिषद् के श्लोको मे अज को पुरुष माना गया है और अथर्ववेद मे वह कही पाँच प्रकार का ओदन

---

(१) सर्वेषां वा एष पशूनां रूपाणि प्रति पुरुषस्येव श्मश्रूणि अश्वस्येव शिरो, गर्दभस्येव कर्णौ, शुन इव लोमानि, गोरिव पूर्वौ पादौ, अवेरिवापरौ, अज खलु व सर्वाण्येव पशूनां रूपाण्या स्वऽवरुन्धे। सर्वाण्येव पशूनां रूपाण्युपतिष्ठते।

(२) मुख्यत देखिये MIC., Pl CV, seals No 46, 66, 102 (मा० १४ से १६)

(३) वही ६७, ६६, ६५ ५६ इत्यादि (मा० १७ से २०)

(४) वही ४६, ६६, १०२, ६१ इत्यादि। (मा० १४ से १६ तथा २१)

(५) वही Pl CVI, 93 (मा० २२)।

(६) वही Pl CIV 36 (मा० २३)

(७) वही Pl CVI 93 (मा० २२) CX, 274 (मा० २४)

(८) वही Pl CVIII 167 (मा० २५)

(९) वही Pl CIX 221 (मा० २६)

खाने वाला (पञ्चौदन)[1] है, तो कहीं वह स्वयं अग्नि है[2], कहीं तृतीय ज्योति[3] और कहीं विश्वरूप[4]। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में 'अज' वाक् (श० ब्रा० ७, ५, २, २१) है, ब्रह्म है (श० ब्रा० ६, ४, ४, १५) और है आग्नेय अथवा अग्निषोमीय (श० ब्रा० ६, ४, ४, १५, गो० उ० ३, १९, तां० ब्रा० २१, १४, ११) क्योंकि अज के भीतर उन सभी पशुओं का रूप[5] है जो वाक् ब्रह्म आदि के प्रतीक माने गए हैं।

अत एव इस एकशृंगी पशु (अज) के प्रतीक के अन्तर्गत उस में समाविष्ट अन्य चिह्नों के हेरफेर द्वारा उन सभी कल्पनाओं को मूर्तरूप देना सम्भव था जो अन्य पशु-प्रतीकों द्वारा व्यक्त की जा सकती थीं। उदाहरण के लिए सिन्धुघाटी के दो ऐसे मुद्राचित्रों[6] को लेते हैं जिनके ऊपर एक ही लेख है 'वृत्र' या 'वृत्रहा'[7], परन्तु एक में एकशृंगी पशु (अज) का चित्र है और दूसरे में एक द्विशृंगी वृषभ में लम्बी उठी हुई पूंछ तथा एक लटकती हुई सूंड भी दिखाई गई है। इसकी तुलना-स्वरूप ऋग्वेदीय अग्नि के दो चित्र ले सकते हैं जिनमें से एक में (६, ६०, १३) वह एकशृंगी पशु है जिसकी हनु तीक्ष्ण तथा जबड़े सुंदर हैं और दूसरे (१, १४०, २) में वह विचित्र पशु है जो अपने एक मुख से वृषा तथा दूसरे से वृक्षों को खाने वाला हाथी (वारण) बन जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि अथवा प्रजापति को कभी अश्व (श० ६, ३, ३, २२, १३, १, १, १, तै० १, १, ५, ५, ३, २, २, १) कभी श्वेत अश्व (श० ३, ६, २, ५, ६, ३, ३, २२, तै० ३ ९, २१, ४, ३, ९, २२, १-२), कभी उष्ट्रमुख अश्व (श० ब्रा० ७, ३, २, १४) तथा कभी अज के अतिरिक्त अज वृषभ (श० ५, २, १, २४) के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया गया है क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक प्रतीकवाद में अश्व भी शृंगवाला हो सकता है और अज में भी अश्वरूप का समावेश है।

---

(१) अ० वे० ९, ५, ८।
(२) अजोऽग्निरजमु ज्योतिराहुरज जीवता ब्रह्मणे देयमाहु (अ० वे० ९, ५, ७)
(३) एतद् वो ज्योति पितरस्तृतीय (अ० वे० ९, ५, ११)
(४) अ० वे० ९ ५, १९ २१।
(५) अजे हि सर्वेषा पशूना रूपम् (श० ब्रा० ६, ५ १, ४)
(६) MIC Pl CXII. 378, (मा० २८) CIX 252 (मा० २७)
(७) देखिये 'वर्णमाला'।

अन्नाद अग्नि

अब प्रश्न यह रह जाता है कि सिन्धुघाटी के मुद्राचित्र में स्थित दोनो एकश्रृंगी पशु किस के प्रतीक हैं ? इसमें तो कोई सन्देह नही कि वृक्ष पशु का अन्न (भोजन) है अत उपनिषद् के आधार पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही हो सकती कि इन दोनो में से एक अन्नाद[1] (भोजन को खाने वाला) है। उक्त मुद्राचित्र (स० ८) में नीचे दो कोनो पर जो लिपिचिह्न हैं, उनसे भी यही सकेत मिलता है कि इस चित्र में अन्नाद और अन्न, भोक्ता और भोग्य दोनो का समन्वय किया गया है। बायें कोने पर स्थित चतुर्भुज अपने में निम्नलिखित प्रतीक छिपाए हुए है—

(१) एकत—इसका प्रतीक चतुर्भुज का अविभक्त अर्द्धांश है।

(२) द्वित—इसका प्रतीक दो समान भागो मे विभक्त उसका द्वितीय अर्द्धांश है।

(३) त्रित—इसका प्रतीक द्वित और एकत प्रतीको के सयुक्त रूप से बनता है। एकत, द्वित और त्रित को एक ही चतुर्भुज के भीतर रखने का यह अभिप्राय है कि यहाँ इन तीनो का एकत्रित रूप दिखाया गया है जिसमें उक्त तीनो रूप व्याकृत होकर भी एकगत हैं। तीनो रूप परस्पर पृथक् नही हुए, इस कल्पना को व्यक्त करने के लिए उक्त चतुर्भुज के पास ही एक दडारूढ[2] त्रिभुज भी बना है जिसमें दड 'अ' का द्योतक है और त्रिभुज 'त्रि' का है। इस प्रकार बने हुए शब्द 'अत्रि' का साधारण अर्थ हुआ तीन नही' परन्तु ब्राह्मणग्रथो ने इसकी व्युत्पत्ति अद (खाना) धातु से करके इसमें अत्ता (खाने वाला) के श्लिष्टार्थ[3] का भी समावेश कर दिया है। अत्रिसूचक चिह्न के साथ ही पास में 'अग्नि' शब्द[4] भी लिखा है, अत कुल मिला कर तीनो चिह्न का अर्थ हुआ 'एकत्रित अत्ता (अत्रि) अग्नि'। ब्राह्मणो में अग्नि के इसी रूप को अन्नाद भी (तै० २, ५,७, ३) कहा गया है और वह अङ्गार, अर्चि तथा धूम-रूप में त्रिवृत् (कौ० २८,५, शा०६,३, १,२५) भी है। इसी कल्पना को आध्यात्मिक रूप देने पर,

---

(१) मु० क० तयोरन्यो पिप्पल स्वाद्वत्ति, अथवा अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते। (श्वे० उ० ४, ५-६)।

(२) देखिये 'सबंधित लिपि-चिन्ह'।

(३) अत्तिर्हि नाम एतद् यदत्रिरिति (श० १४, ५, २, २), स वै य सोऽत्ताऽग्निरेव स (श० १०, ६, २, २)

(४) देखिये 'षण्मासा'।

आत्मा को वाक्, मन तथा प्राण की दृष्टि से त्रिविध माना[1] जाता है और क्रमश शरीर, तेजोमय तथा अमृतमय कहा जाता है[2] अथवा शुद्ध भौतिक रूप (बहिरात्मा) में दक्षिण पक्ष, उत्तर पक्ष तथा पुच्छ की दृष्टि से त्रिवृत माना जाता है। यह आत्मा अग्नि (तै० ३,१०,११,१) सिंधुघाटी के मुद्रा-चित्रों में जब त्रिवृतरूप में चित्रित किया जाता है तो उसके तीन शिर होते हैं (भा० ३०) जिनमें से एक कभी एकशृंगी पशु का भी होता है और कभी तीनों ही द्विशृंगी होते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस चित्र पर सात का अंक सात अर्चो का तथा 'अत्रि' शब्द अर्थात् अग्नि का सूचक है। एक दूसरी दृष्टि से सर्वतोमुख अर्थात्[3] अग्नि के सभी ओर मुख होते हैं (श० २,६,३,१५) और आत्मा को षड्विध[4] कहा है (कौ० २०,३), इसी दृष्टि से सिंधुघाटी में छः मुखवाले पशु चित्र[5] (भा० २६) भी मिलते हैं जिनमें यद्यपि मुद्रा त्रुटित हो जाने से सभी मुखों को पहिचानना कठिन है, परन्तु अनुमानत उक्त त्रिवृत अग्नि के चित्र में जो तीन शिर दिखाए गए हैं उनके अतिरिक्त सर्वतोमुखरूप मे चीता, भैंसा और गैंडा के शिर और सम्मिलित किए गए[6] हैं। इसी चित्र का रूपान्तर एक अन्य मुद्रा[7] पर भी मिला है जिसमें पूरा शिर तो केवल एकशृंगी पशु का ही बन पाया है परन्तु अन्य पाँच शिरों के स्थान पर उभरे हुए पाँच अङ्क दिखाये गये हैं। इस चित्र की एक विशेषता यह है कि इसमें एकशृंगी शिर के नीचे ११ का अंक बना है और शेष पाँच स्थानों पर क्रमश डेढ उकार, अयज अग्नि, वृत्र तथा इदु शब्द[8] लिखे हैं। इन छः मे से इदु का वृत्र, अग्नि का अयज और सम्भवत,

---

(१) एत मयो वाङ्मयमात्मा वाङ्मयो मनोमय प्राणमय (श० १४, ४, ३, १०)।

(२) यश्चायमध्यात्म, शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव, सयोऽयमात्मेदममृतमिद ब्रह्मेद सर्वम (श० १४, ५, ५, १)।

(३) सर्वतोमुखोऽयमग्नि। ततो ह्य प कुतश्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति। तेनैष सर्वतोमुखस्तेनाग्नाद (श० २, ६, ३, १५)।

(४) षडङ्गोऽयमात्मा षड्विध (कौ० २०, ३)।

(५) MIC, Pl CXII, 383 (भा० २६)।

(६) तु० क० K N Shastri, The New Light on Indus Civilization Vol II, P 119

(७) Mackey, E, furthr Excavations, Vol II, Pl XCVIII, 641 (भा० ३१)।

(८) देखिये 'वर्णमाला'।

वायुसूचक* डेढ उकार का ११ अङ्क आवरक है। इसी प्रकार सम्भवत उक्त छ पशुओ मे से भी तीन क्रमश उकार अग्नि तथा इन्दु के प्रतीक हैं और शेष तीन क्रमश उनके आवरको के।

सर्वतोमुख अग्नि के उक्त दो चित्रो मे से पूर्वचित्र में सभी छ' मुख एक ऐसी हृदयाकार वस्तु से जुडे हैं जिसको ब्राह्मणग्रथो की 'उखा' कह सकते हैं। उखा साधारण भाषा मे एक यज्ञपात्र है जो अग्नि का प्रतीक है और आत्मा के अग्निरूप होने से आत्मा[1] का भी। शरीर मे 'उदर' का नाम भी उखा[2] था, उसीके अनुकरण पर उखा-नामक यज्ञपात्र बना था। उदर से अभिप्राय हृदय से ही रहा प्रतीत होता है। हृदय ही शरीरगत यज्ञ का केन्द्रस्थान है जिसमें मूर्धा, मन, श्रोत्र, वाक्, शरीर, रेतस् (तै० ब्रा० ३, १०, ६, ४–६) और आत्मा (श० ३, ६, ३, ८) भी आश्रित बताये गए हैं, इसी लिए हृदय के प्रतीक उखा-नामक यज्ञपात्र को भी अग्नि का पव[3], यज्ञ का शिर[4] तथा योनि[5] कहा गया है। महाभारत मे अग्नि (आत्मा) तथा उखा के सम्बध को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि अग्नि नित्य है और उसका प्रतीक उखा[6] उससे भिन्न है। अत सिन्धुघाटी के उक्त चित्र में वह हृदयाकार वस्तु जिससे सभी छ शिर जुडे हुए बताए गए हैं वह उखा ही है। इसी उखा के दो भाग होकर सि घुघाटी के दो वकार बन जाते हैं जो आत्मज्योति के दो खड प्रतीत होते हैं—एक वरुण और दूसरा वृत्र। इनमे प्रत्येक को आगे अर्द्ध-उखा कहा जाएगा। इन्ही दो खण्डो को आकृति ८ मे दो सग्रीवशिरो की अर्ध-उखात्मक ग्रीवाभग द्वारा व्यक्त किया गया है। अत प्रश्न होता है कि सिन्धु-घाटी के सर्वतोमुख चित्र मे जो छ शिर दिखाए गए है वे भी कही इन्ही दोनों से किसी प्रकार सम्बन्धित तो नही हैं ?

बृहदारण्यक उपनिषद् की सहायता से इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है। इस उपनिषद में सात अन्नों और चार धनो का उल्लेख है

(*) मध्यदयो वायु ।
(१) आत्मवोखा (श० ६, ५, ३, ४, ६, ६, २, १५)
(२) उदरम् उखा (श० ७, ५, १, ३८)
(३) पव एतदग्नेयदुखा (श० ६, २, २, २४)
(४) शिर एतद् यज्ञस्य यदुखा (श० ६, ५, ३, ८, ६, ५, ४, १५)
(५) योनिर्वाऽउखा (श० ७, ५, २, २)
(६) अन्यो हि अग्नि उखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भो (म० भा० १२, ३, १५, १५,)

(१, ४, १७, १, ५, १-३) इन्ही को सूचित करने के लिए ग्यारह का अक सवतोमुख पशु-चित्र[१] के नीचे लिखा है और यही अक चित्र ८ के नीचे दाहिनी ओर है जिसके पास चतुष्कोण के भीतर सात अन्न और चार वित्तो के द्योतक लिपि-चिह्न[२] हैं। चित्र ८ के वृक्ष-चित्र में इन्ही ग्यारह की अन्नवित्त-समष्टि को व्यक्त करने लिए सात बडी पत्तिया और चार कोपलें बनाई गई हैं। सवतोमुख[३] चित्र मे ग्यारह के अङ्क के नीचे जो पौन वकार का लिपि-चिन्ह बना है उसके भीतर दो का अङ्क यह सूचित करता है कि यहाँ पौन का दूना अर्थात् डेढ वायुसूचक[४] वकार अभीष्ट है। 'व' के यही दो पूर्ण लिपि चिन्ह ८ मे एकशृंगी पशुद्वय के दो ग्रीवा-भगो मे समाविष्ट कर दिए गए हैं और दोनो मिल कर सम्पुटरूप मे छ मुखी[५] पशुचित्र मे केन्द्रवर्ती उखा का निर्माण करते हैं। इस उखा में दोनो का समावेश होना इसी से स्पष्ट है कि उस चित्र मे एक ओर उसी उखा आकृति[६] से विपरीत दिशाओ मे निकलते हुए दो वकार दिखाए गए हैं। अत. आ०-३२ में एकादशी अन्नवित्त समष्टि के साथ ही दो सयुक्त सग्रीव-शिरो को ग्रीवाभगिमाओ द्वारा जो सयुक्त वकार चित्रित किए गए हैं वे वही हैं जो छ-मुखी[७] चित्र मे ग्यारह के अङ्क के नीचे वायुसूचक डेढ वकार के रूप मे खण्डशः दिखाए गए हैं।

इस विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुघाटी मे उपनिषद्-परम्परा की एकादशी अन्नवित्तसमष्टि को त्रिवर्णा अजा (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) के स्थूल विकसित रूप को सपर्ण वृक्ष द्वारा इगित किया जाता था और उसी का ज्योतिर्मय सूक्ष्म रूप दो अर्द्ध उखाओ के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता था। बृहदारण्यक-उपनिषद्[८] की उक्त एकादशी अन्नवित्त समष्टि मे सूक्ष्म अन्न तीन माने गए हैं और वे हैं वाक्, मन और प्राण या इन्द्र जिन्हें प्रजापति ने अपने लिए सुरक्षित रक्खा है, इन्ही के सयोग से आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय होता है।

---

(१) MFE Vol II Pl XCVIII, 641 (आ० ३१)
(२) देखिये अत मे वर्णमाला।
(३) MFE Vol II Pl XCVIII, 641 (आ० ३१)
(४) यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निद सवमध्यार्ध्नोतितेनाध्यर्ध इति (श० १४, ६, ६, १०) तु० क० अर्धं ह प्रजापतेर्वायुरर्धं प्रजापति (श० ६, २, २, ११)
(५) MIC Vol III Pl CXII, 383 (आ० २६)
(६) आ० २६।
(७) आ० ३१।
(८) १, ५, ३।

इन्हीं को विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात कहा गया है[1]। इन तीनों की ज्योति का नाम क्रमशः अग्नि, आदित्य तथा इंदु है और इनके शरीर क्रमशः पृथिवी, द्यु तथा आप कहे जाते[2] हैं। सिन्धुघाटी के छः मुखी चित्र में (आ० ३१) जो छः नाम मिलते हैं उनमें से ३ तो इन्हीं तीन ज्योतियों के प्रतीत होते हैं और इनमें से प्रत्येक के साथ एक अन्य नाम उस ज्योति को आवृत रखने वाले शरीर का है। अतः इंदु ज्योति का आवरणशरीर वृत्र, अग्नि का अयज तथा आदित्य (वायु) (जिसे दो पीन वकारों द्वारा व्यक्त किया गया है) का एकादशी अन्न-समष्टि (अङ्क ११) बतलाया गया प्रतीत होता है। इनमें से आदित्य[3] (वायु) ही अत्ता, अत्रि या अन्नाद अग्नि है, इसीलिए वह अन्नवित्तसमष्टि से घिरा हुआ बताया गया है, यही भोक्ता (जुषमाण) अज तथा पिप्पली खाने वाला सुपर्ण के रूप में वर्णित अज्ञ अनीश[4] पुरुष है। इसके विपरीत अयज से आवृत होने वाली अग्नि ज्योति अनाहारी अज या सुपर्णरूप में वर्णित ज्ञ और ईश पुरुष[5] है जिसे इसका ज्ञान तो है कि अजा (प्रकृति) को भोगा जा रहा है (अन्न को खाया जा रहा है), परन्तु वह स्वयं उसे नहीं भोगता, केवल देखता है। इन दोनों ज्योतियों को संयुक्त ज्योति इंदु (सोम)[6] है जो उपनिषद् में इन्द्र (प्राण) के अन्तर्गत मानी गई है और सिन्धुघाटी में जिसके आवरक शरीर का नाम वृत्र बताया गया है। इसी अवस्था को इंगित करते हुए ब्राह्मण ग्रंथों में इंदु अथवा सोम को वृत्र[7] कहा गया है।

सिंधुघाटी में उक्त तीनों ज्योतियाँ अपने अपने शरीरों से आवृत पुरुष रूप में चित्रित की गई हैं। हड़प्पा[8] की एक तिपहली मुद्रा पर तीन पुरुषों के चित्र हैं जिनमें से एक शिरहीन होने से 'अज्ञ' पुरुष अन्नाद का प्रतीक लगता है, दूसरा हस्तरहित होने से अकर्ता तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण से 'ज्ञ' पुरुष का प्रतीक

(१) बृ० उ० १, ५, ४ १०।
(२) वही १, ५, ११-१३।
(३) तु० क० आदित्य की माता अदिति की व्युत्पत्ति "सर्वं वा अत्ति इति तददतेरदितित्वम् (श० १०, ६, ५ ५), अग्नि = अदिति (श० १, ४, ५, १३)
(४) श्वे० उ० ४, ५-७, १, ९।
(५) वही।
(६) सोमो वाऽइन्दु (श० २, २, ३, २३, ७, ५, २, १६, सोमो व राजेन्दु ऐ० १, २९)
(७) वृत्रो वै सोम आसीत (श० ३, ४, ३, १३, ३, ९, ४, २, ४, २, ५, १५) अथैष वृत्रो यच्चन्द्रमा (श० १, ६, ७ १३; १८)
(८) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 305 (आ० ३३)

है, और तीसरा सपूर्णपुरुष होने से तथा अपने दोनो हाथो की मोडों द्वारा दो उकारो की सृष्टि करने से उक्त दोनो पुरुषो की ज्योतियो का सयुक्त रूप प्रतीत होता है। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन तीनो पुरुषो के साथ आवरक वृत्र का लिपिचिन्ह है, परन्तु जहाँ पहले एव दूसरे पुरुष के साथ समूचा वृत्र चिन्ह है, वहाँ तीसरे के साथ आधा ही वृत्र चिन्ह रह जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि उपनिषद् तथा चित्र मे तीनो ज्योतियो के शरीरो के जो भिन्न भिन्न नाम बतलाये गये हैं वे वस्तुत वृत्र-तत्त्व के ही रूपातर-मात्र हैं। जो ज्योति जितनी अधिक तेज होगी आवरक वृत्र का आवरण उतना ही कम होगा, इसीलिये तृतीय पुरुष मे आवरक वृत्र का अर्द्धांश ही है, क्योकि इसके भीतर अन्य दोनो की ज्योतियो का एकत्र होना उसके दोनो हाथो की मोडो से बने दो उकारो से प्रकट होता है। इन्ही तीनो पुरुषो के चित्र एक दूसरी मुद्रा[1] पर एक अन्य प्रकार से मिलता है। यहाँ चौकी पर एक पुरुष योगासन मे बैठा हुआ है जिसके दोनो ओर दो नग्नपुरुष अपनी-अपनी ज्योति का प्रतीक (आ० ३५) उकार भेंट कर रहे हैं। इन दोनो पुरुषो के पीछे जो एक एक अहि अपने फण की छाया सा करता हुआ खडा है वह उसी वृत्र का प्रतीक है जो पूर्व चित्र (आ० ३४) मे उन दोनो के साथ सम्बद्ध बताया गया है क्योकि अन्यत्र[2] दोनो सर्पो का चित्र बनाकर साथ ही 'मन वृत्रापौ द्वौ' लेख भी मिलता है, और इसी चित्र के पीछे 'उ वृत्रहा' लिखा है और उससे नीचे एक उड्डीयमान श्येन समान मुख वाला अज है जो तृतीय पुरुष का प्रतीक लगता है। इसी की तुलना एक अन्य चित्र[3] से की जा सकती है जिसमे एक ओर 'मन वृत्राप' लेख के साथ दो सर्प हैं और दूसरी ओर अन-अन के बीच उ अत्रि' लिखा है। तृतीय पुरुष के शिर के ऊपर दो उकार सयुक्त रूप में दिखाये गये हैं, इससे स्पष्ट है कि वह अन्य दो पुरुषो का सयुक्त रूप है। इस पुरुष के आसन के नीचे दो मेढे खडे हुये हैं जो अन्य चित्रो मे उक्त दो पुरुषो से सबद्ध दिखाये गये हैं। ये दोनो मेढे क्रमश अज्ञ और ज्ञ-पुरुष के मन के प्रतीक हैं। समस्त चित्र को समझने के लिये इसके ऊपर 'वृत्रद्वय त्रिवृत अकार' लिखा है, जिसमे से वृत्रद्वय से अभि-

---

(१) MFE, Pl CIII, seal 9, (आ० ३४), MIC, Pl CXVIII, seal VS 210 (आ० ३५)

(२) MFE, Pl CI, seal 11—a,b

(३) MFE Pl 15, a-b (आ० १०)

प्राय दो सर्पों से है और त्रिवृत अकार पुरुषत्रय का द्योतक है। एक चित्र[1] में ११ पीपल पातो से युक्त वकार (जो कि वरुण का प्रतीक है) के नीचे इन्द्र खड़ा है और उसके सामने अपने चक्षुहीन,नग्न,मन-मेष को पीछे किये हुये अज्ञ पुरुष नग्नावस्था मे हाथ जोडता तथा गिडगिडाता-सा है, सम्भवत इसी अनुनय विनय के फलस्वरूप उसे पाच पत्तियो का वकार (वरुण) मिल जाता है जिसके नीचे वह चित्र ३७ मे हृष्टपुष्ट (उक्त दीनावस्था से विपरीत) दिखाई देता[2] है और एक अन्य चित्र[3] में शिर पर त्रिशूल धारण करके अपने नग्न अधे मेंढे को अष्ट-पर्ण वकार के भीतर स्थित त्रिशूलधारी देव के सामने अपने नग्न, अध मन मेष को करके ऊपर खडे हुये छ पुरुषो (जो पाँच कर्मेन्द्रियो सहित वाक् के प्रतीक हैं) को दोनो हाथ उठाकर बुलाता हुआ अन्नपूर्णा प्रकृति को भोगने के लिये आह्वान सा करता है।

इससे विपरीत एक अन्य चित्र[4] में एक छ पत्रो वाले वकार के भीतर स्थित त्रिशूल वपटधारी व्यक्ति के पास त्रिशूलवपट्धारी पुरुष झुका हुआ एक पत्ते को स्पर्श कर रहा है और उसका पुरुष मुखी मन मेष स्थिर भाव से अपने आयत नेत्र से देख रहा है। पूर्व पुरुष के नेत्रहीन मेष के विपरीत आयतनेत्र मेष से सबद्ध यह पुरुष स्पष्टत द्रष्टा प्रतीत होता है, इसीलिये इसके पास खडे हुये सात पुरुष पचज्ञानेन्द्रियो सहित बुद्धि के प्रतीक समझे जा सकते हैं और देव के आवरक वकार की छ पत्तियाँ मन-सहित छ ज्ञानेन्द्रियो के विषय हो सकते हैं। सिंधुघाटी की एक अन्य मुद्रा[5] (आ० ३६) में भी ये सप्त पुरुष चित्रित प्राप्त हुये हैं जहाँ पर घ, र, च, त, व, श्र और म क्रमश घ्राण, रसना, चक्षु त्वक् वाक्, श्रोत्र तथा मन के सूचक हैं। यह चित्र ऋग्वेद के तौग्रयोपाख्यान (१, १८२, ५८) में भी प्राप्त होता है। वहा[6] उस वृक्ष को जानने की इच्छा

(१) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 31…
(प्रा० ३६)
(२) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 31…
(प्रा० ३७)
(३) MIC, Plate CXVI, 1 (प्रा० ३८)
(४) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCIX, A…
Plate XCIV, 430, (प्रा० ३८)
(५) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCI, 2…
(प्रा० ३६)
(६) क स्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसोय तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत् । पर्णा मृगस्य पतरोरिवारभे उदश्विना ऊहथु श्रोमताय कम् । यद वां नरा नासत्यावनुष्याद …

प्रकट की गई है जो 'अर्णस' के मध्य मे स्थित है और जिसका तौग्र्य ने परिष्व-जन किया (परिषस्वजत्) है, इसी प्रसग मे एक ऐसे मृग का भी उल्लेख है जिसके पत्तो के समान किसी व्यक्ति को अश्विनौ ले आते हैं और कुछ ऐसे व्यक्तियो (मानास) की ओर सकेत है जो अश्विनौ की स्तुति, सभवत इसी कार्य के लिये करते हैं। स्पष्ट है कि सिधुघाटी के मुद्राचित्र मे चित्रित पीपल-वृक्ष ही ऋग्वेद का रहस्यमय वृक्ष है और उसमें परिवेष्टित पुरुष ही तौग्र्य है, इसी प्रकार वहाँ के मेष को ऋग्वेद का मृग तथा उसके सामने झुका पुरुष ही ऋग्वेद का वह व्यक्ति है जिसे अश्विनौ ले आते हैं। मुद्राचित्र के सप्त पुरुष ही ऋग्वेद के 'मानास' समझे जा सकते हैं। यहाँ पर तौग्र्य तृतीय पुरुष प्रतीत होता है जिसके लिये अश्विनौ (अ और अज्ञ पुरुष) मानव-शरीररूपी नाव (प्लव) बनाते हैं जिसको 'आत्मन्वन्त पक्षिण'[1] (आत्मा से युक्त पक्षी) कहा गया है। इस नाव की तुलना सिधुघाटी[2] के (प्रा० ४०) उस मयूर चित्र से कर सकते हैं जिसके भीतर एक पुरुष (आत्मा) की आकृति भी दिखाई गई है। जठल (जठर[3]) की जो चार[4] नावें अश्विनौ द्वारा प्रेरित होकर इस तौग्र्य को अर्णव से पार करती हैं वे सभवत आनन्दमय पुरुष के क्रमश विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश हैं जिनका वर्णन तैत्तिरीय-उपनिषद्[5] मे पक्षधारी पुरुषो के रूप मे किया गया है। षड्विंशब्राह्मण[6] के अनुसार पुरुषरूप आत्मा (इद्र) के पूर्व पक्ष और अपर पक्ष को ही इद्र के हरी कहा जाता है और अन्य ब्राह्मणो के अनुसार भी इन्ही पक्षो के कारण आत्मा को पक्षी[7] भी कह सकते हैं। हडप्पा[8] से प्राप्त अस्थि कलशो पर एक उकार चित्रित होता है जिसको ऊपर आत्म ज्योति का प्रतीक बताया गया है। उसके ऊपर बने हुये मयूर

---

(१) युवमेत चक्रथु सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्त पक्षिण तौग्र्याय कम्। (१, १८२, ५)

(२) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate LXII 2

(३) तु० क० अग्निर्वै देवाना जठरम (तै० २,७,१२,३) मध्य वै जठरम (श० ७,१,१ २२) इससे स्पष्ट है कि जठर की नावें आन्तरिक वस्तुयें हैं।

(४) अवविद्ध तौग्र्यमप्स्व तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिता पारयन्ति (१, १८२, ६)

(५) त० उ० २, २–६।

(६) पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इद्रस्य हरी। ताभ्या हीद सव हरति (ष० १, १)

(७) श० १, १, ६, ८,७,२, ३, ता० ६, ४, ८, ऐ० २, २४, तै० १, ६, ३, ६०

(८) देखिये K N Sastri, New Light on the Indus Civilization, Vol II पृ० १५–२०।

पक्षियो से प्रकट है कि इस आत्म-ज्योति को वहन करने वाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश ही पक्षीरूप नाव कहे जाते थे जिनका आश्रय लेकर आत्म ज्योति मृत्युरूपी अणव को पार करके पुनर्जन्म प्राप्त करके अन्य स्थूल शरीर को ग्रहण करती थी। आत्म ज्योति के साथ उसके कर्तृपक्ष और ज्ञातृपक्ष सभवत सूक्ष्मरूप मे सर्वथा सयुक्त माने जाते थे, यही अश्विनी अथवा इद्र के हरी हैं जो उसको ले जाने वाले हैं और इन्ही के प्रतीकस्वरूप दो सग्रीव एक-शृंगी शिर चित्र ८ के वृक्ष पर दिखाये गये हैं। अत ये दोनो शिर उसी आत्मज्योतिरूपी अश्व अथवा अज[1] के माने जा सकते हैं जिसका उल्लेख ब्राह्मणो और उपनिषदो मे वृक्षरूप में भी प्रस्फुटित होता[2] बताया है।

अश्वत्थ-वृक्ष

इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि मानव शरीर ही वृक्ष है और उसमे परिवेष्टित पुरुष आत्मा का एक रूप है जो कर्मेन्द्रियो ज्ञानेन्द्रियो के सन्दर्भ मे अज्ञ(कर्ता)तथा ज्ञ(ज्ञाता)रूप में द्विविध हो जाता है। यह वृक्ष स्वय प्रकृति-निर्मित है और पुरुष के द्विविध रूपो को अन्नवित्तरूपा भोग-सामग्री प्रस्तुत करता है जिसे वृक्षो के पत्तो के रूप मे दिखाया जाता है। क्रिया और ज्ञान दोनो के लिये इच्छा शक्ति की अनिवार्य आवश्यकता होती है, अत कर्ता और ज्ञाता के सयुक्त रूप को तृतीय पुरुष (इद्र या प्राण) माना गया है जो उक्त वृक्ष द्वारा परिवेष्टित रहता है और उपनिषद् के अनुसार अपने मे इदु और आप को समाविष्ट किये हुये है। प्रकृति पुरुष के लिए वरुणत्व भी देती है और वृत्रत्व भी। वरुण रूप में वह सहायक है और वृत्र-रूप मे आवरक या बाधक होकर बधन पैदा करती है। वृत्ररूप से प्रभावित होकर पुरुष के कर्ता और ज्ञाता पक्ष परस्पर सघर्ष करते हैं (कौरव पांडव का युद्ध होता है) इन दोनो के प्रतीक दो चीते हैं जिनका दमन करने में आत्मा (तृतीय पुरुष) भी तभी समर्थ होता है जब वह अपने सिर पर सूर्य का तेज धारण करता है, जैसा कि एक मुद्रा[3] चित्र मे दिखाया गया है। इसका कारण है कि सूय तेज परमात्मा की सर्वज्ञता और सवशक्ति-मत्ता का प्रतीक है जिसको प्राप्त करके ही आत्मा वृत्र को अपना दास बना कर अपना सहयोगी बना लेता है। एक अन्य चित्र[4] में इसी विचार को व्यक्त करते

(१) ऐ० ब्रा० १०, ६, ४, १, १, ४, १, ३० इत्यादि।
(२) यथनत् पुरुषाग स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिम् शाखा प्ररोहेयु पलाशानि (छा० उ० ५, २ १)
(३) MFE' Plate LXXXIV, seal 75
(४) वही, Plate CI, seal 1—ab

एक संश्लिष्ट वर्ण प्रस्तुत किया गया है जिसमें 'अन' शब्द के ऊपर वृत्र और दायें बायें 'वरुण' सूचक अपद्वय तथा मन सूचक मकारद्वय लिखा है। वृत्र का सहयोग प्राप्त कर लेने से वृत्र के प्रतीक गैंडा और चीता शांत होकर खड़े हैं, इसी बात को सकेत करते हुए तृतीय पुरुष सम्भवत अन्नमय पुरुष के प्रतीक गौर को चित्र में शान्त करते हुए नाद मे रखे पेय को पिला रहा है। यह तुरीय पुरुष ही ब्राह्मण ग्रंथो का प्रजापति[1] (अग्नि)[2] है जो अश्व (प्राण या इंद्र) होकर वृक्ष मे प्रवेश करता है और जिसके फलस्वरूप इस वृक्ष को अश्वत्थ कहा जाता है। शरीर-वृक्ष मे प्रविष्ट हुये इस अश्वरूप प्रजापति में सभी देवता[3] समाविष्ट हैं और इसीलिए अश्व को वैश्वदेव[4] कहा जाता है और इस रूप मे अग्नि सब देवो तक यज्ञ को वहन करने वाला कहा जाता[5] है। इस प्रकार इसी की शक्ति से शरीरस्थ इन्द्रियादि देवता शक्तिमान् होते हैं।

अश्वत्थ-वृक्ष की गौ

प्रजापति की जो शक्ति अश्वत्थ वृक्ष (शरीर) के देवताओं को शक्तिमान् करती है उसका नाम गो है। प्रजापति[6] उसका निर्माण प्राणों की सहायता से करता है। यह गौ अजस्र सोमरूप (श० ७, ५, २, १९) होने से सब देवताओ को शक्ति का स्रोत है और वैश्वदेवी[7] कहलाती है। यह गोरूप शक्ति ही इंद्र-रूपी आत्मा का वज्र है जिसे सूर्य-लोक से प्राप्त हुआ बताया जाता है और जो प्रत्येक शरीररूपी वृक्ष में नियत गौ होकर पुरुष (आत्मा) को खाने वाले पक्षियो के लिये भयहेतु[8] बना हुआ है। ब्राह्मणग्रंथों[9] के अनुसार गौ के द्वारा ही देवो ने असुरो का संहार किया था। सिंधुघाटी में भी एक ऐसा ही पशु है ज शरीरगत सब देवो को मिलाने वाला, उनको शक्ति देने वाला तथा उनके

---

(१) प्रजापतिर्देवेभ्यऽनिलायत। अश्वो रूप कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वस्याश्वत्थम् (तै० ३, ८, १२, २)

(२) तै० ३, ८, १२, २

(३) अश्वे वै सर्वा देवता अ वायत्ता (तै० ३, ८, ७, ३)

(४) वैश्वदेवो वा अश्व (श० १३, २, ५ ४, तै० ३, ६, २, ४, ३, ६, ११, १)

(५) अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो य न वहति (श० १, ४, १, ३०)

(६) प्रजापति प्राणात् गाम् (निरमिमीत) श० ७, ५, २, ६

(७) वैश्वदेवी वै गौ (गो० उ० ३, १९)

(८) ऋ० वे० १०,२७, २१–२२।

(९) तां० ब्रा० १६, २, २–३।

शत्रुओ का विनाश करने वाला है। एक मुद्राचित्र[१] में एक ओर तो सभवत उसके द्वारा मारे गये चीतो (वृत्रो के प्रतीक) का ढेर पडा दिखाया गया है और दूसरी ओर पशुओ के रूप मे चार वृत्रो को उसके द्वारा आतकित किया हुआ सा दिखाया गया है। एक अन्य मुद्राचित्र[२] मे यही पशु छ अन्य पशुओ को अपने सीगो, पैरो और पूछ द्वारा मिलाता हुआ सा दिखाया गया है। इस पशु का आकार एक महागोधा जैसा है जिसके सीग सिंधुघाटी के उस महावृषभ जैसे हैं जो विश्वरूप ब्रह्म[३] का प्रतीक होता है। सिंधुघाटी की यह गोधा ऋग्वेद[४] की उस गोधा की याद दिलाती है जो उक्त गो की भाति ही इन्द्र के वज्र का प्रतीक है और जिसके सदर्भ मे बद्धनख सुपर्ण, अवरुद्ध सिंह तथा निरुद्ध महिष तथा एक क्षुरनामक हिंसक पशु का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्म (प्रजापति) के अश्वों के साथ हिंसा का व्यवहार करते हैं और वृषभो के समूह को खा जाते हैं। निस्सदेह ये चार पशु ब्रह्म के शत्रु होने के कारण वृत्रो के प्रतीक कहे जा सकते हैं और ये गोधा द्वारा उसी प्रकार आतकित कर दिये गये हैं जिस प्रकार सिंधुघाटी के मुद्रा-चित्र मे। दोनो चित्रो के ब्योरो मे यद्यपि कुछ अतर है परन्तु आधारभूत कल्पना एक ही प्रतीत होती है।

गोधा और महिष

मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्राचित्र[५] मे उक्त गोधा एक चतुर्भुज के भीतर तीन पुरुषाकृतियो और गेंडे के साथ स्थित है और चार अन्य पशुओ को अपने में मिलाती हुई सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार के एक अन्य चित्र[६] मे, एक ओर तो गोधा सभवत पूर्वचित्र के तीनो पुरुषों और तीन पशुओ को आत्मसात् कर चुकी है और दो अवशिष्ट पशुओ को आत्मसात्-सा कर रही है, दूसरी ओर एक विचित्र आकृति है जिसमें एक वृत्ताकार आकृति में से चारो ओर को

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCII, seal 10 (आ० ४१)
(२) वही Plate CIII, seal 16 (आ० ४२)
(३) इस पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा।
(४) १०,२८, १०–११।
(५) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate LXIX, seal 23 and CIII, seal 16 (आ० ४२)
(६) वही, Plate XCII, seal 2a and 2b (आ० ४३)

निकलती हुई सी सात गर्दनों में से केवल एक पर एकशृंगी पशु का शिर है और साथ मे उक्त सात गर्दनों के अतिरिक्त एक गोधा का द्विशृंगी शिर भी दिखाया गया है जिनकी पहिचान के लिये एक उकार और एक वकार लिख दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस समष्टिवर्ग में पूव चित्र के पाँच पशु और तीन पुरुष समवेत होकर एकशृंगी पशु और गोधा की अद्वैत इकाई बन गये हैं और इन्ही दोनों की ओर सकेत करने के लिये इद्र नामक आत्मज्योति-सूचक उकार और उसकी शक्ति (वरुण) का द्योतक वकार लिख दिया गया है। अत यह इन्द्रावरुण का प्रतीक है जिसकी तुलना परवर्ती शिवशक्ति-तत्व से की जा सकती है। इद्रावरुण का अद्वैत तत्व किस प्रकार वरुण (शक्ति) के प्रभाव मे अनेकत्व ग्रहण करता है उसको बतलाने के लिये, एक मुद्राचित्र[१] पर एक ओर वरुण सूचक वकार लिखा हुआ है और दूसरी ओर एक हाथ बढाये हुये ऊपर उडते हुये से पुरुष का स्वागत करते हुये दो खडे व्यक्ति दिखाये हैं। इनके पास ही चार सपुट अकार परस्पर जुडे हुये हैं और उन सब मे से होकर एक रस्सी-सी गई हुई है। स्पष्ट है कि ये तीन पुरुष वही हैं जिनको ब्राह्मणों मे वाङमय, मनोमय तथा प्राणमय पुरुष कहा है और जिनकी ज्योति को क्रमश अग्नि, आदित्य (वायु) और इदु कहा है, इनके पास स्थित चार सपुट अकार सभवत वे चार पशु हैं जो ऊपर चित्र मे गोधा से जुडे हुये अथवा आत्मसात् हुये बताये गये हैं और उनमें से होकर जाने वाली रस्सी शक्तिरूपा गोधा अथवा वरुण की प्रतीक है जो उक्त तीनो पुरुषों को इन चार सपुट अकारो में बाँधकर उक्त चार पशुओ (पाशबद्धजीवों) में परिणत कर देती है। यह सारा खेल वरुण का ही है, इसीलिये वहा वकार अकित कर दिया गया है।

यह वरुण (शक्ति) ही वृत्र रूप धारण कर सकती है और उक्त तीनो पुरुषो को पाशबद्ध पशु बनाने के स्थान पर छिन्न-भिन्न या नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है। इसका सकेत एक अन्य[२] मुद्राचित्र से प्राप्त होता है। इसमे एक ओर वृत्रसूचक चिह्न बना है और दूसरी ओर पूव चित्र के चार सम्पुट अकारो में से एक के दो टुकडे हो चुके हैं और दूसरे से रस्सी आधी जा चुकी है तथा अन्य दो में रस्सी अभी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सारा चित्र उडते हुए पक्षियो

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCII, seal 1a b

(२) वही, plate XCI, seal 14 (चा० ४४)

से भरा है जिन्होने सम्भवत तीन मे से एक (ऊपर स्थित) पुरुष को खा डाला है और अन्य दो पुरुषों को क्षतविक्षत कर डाला है। इन उडते हुए पक्षियों को देख कर ऋग्वेद[१] के उन पुरुपाद पक्षियो की याद आ जाती है जो शरीर-रूपी वृक्ष में 'नियत गौ' के शब्द को सुन कर भाग जाते हैं। यहाँ नियत शब्द सार्थक है, सम्भवत आत्मशक्ति का एक रूप अनियत भी अभिप्रेत था—एक मे वह सर्वथा आत्मा के वश मे रह कर सयत अथवा नियत गौ बन कर वरुण है और दूसरे मे वह सवथा असयत होकर वृत्र बन जाता है। पहले रूप में वह वशी आत्मा की वशा[२] गौ बन कर सोम (आनन्द) और घृत (ज्ञान ज्योति) का स्रोत[३] बनती है और यज्ञ एव सूय को ग्रहण तथा धारण करने मे समर्थ हो सकती[४] है। परन्तु दूसरे रूप में, वरुण को सयम रज्जु[५] दुरिष्ट-शमन[६] और स्विष्ट-रक्षा[७] को असम्भव देख कर पाप-पाश[८] के रूप मे बदल जाती है जिससे आबद्ध होकर जीवात्मा वृत्र का शिकार बन जाता है—वशा अमृत से मृत्यु मे बदल जाती है[९]। इसी कल्पना को मोहेनजोदरो के एक मुद्राचित्र[१०] में मूर्तिमान् किया गया है। वहाँ मत्यु को एक महिष के रूप मे दिखाया गया है जिसके द्वारा पछाडे हुए दो पुरुष पृथ्वी पर और कम से कम तीन अन्तरिक्ष में झूल रहे हैं। इसके विपरीत एक अ य चित्र[११] में यही मृत्यु-प्रतीक महिष पालतू पशु हो गया है और उसके सामने कुड रक्खा है जिसका पेय पीने के पश्चात वह तृप्तिभाव से शिर ऊपर उठाए हुए है। इसी कल्पना को व्यक्त करते हुए चित्र के ऊपर समस्तवर्ण 'वृत्रापद्वय-अन' के माथ निर्माण-सूचक 'मा' लिखा है

---

(१) वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वय प्रपतान पुरुपाद (१०, २७, २२)
(२) युध एक ससजति या अस्या एक इद्वशी (अ० वे० १२, १०, २४)
(३) सोममेनामेक दुदुहे घतमेक उपासते (वही १२, १०, २३)
(४) यज्ञ यम प्रत्यगह्णात यज्ञा सूयमधारयत् (वही १२, १०, २५)
(५) वरुण्या वै यन रज्जु (श० ६, ४, ३, ८, १ ३, १, १४)
(६) वरुणेन दुरिष्ट (शमयति) त० १ २, ५ ३।
(७) वरुण स्विष्ट (पाति) ऐ० ३,३६,७,५।
(८) तै० ३, ३, १०, १, श० ६, ७, ३, ८, वरुणो वा एवं गृह्णाति य पाप्मना गृहीतो भवति श० १२, ७, २, १७, २, ५ २, १०, ५, २, ४, १३, मनुते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गह्णाति (तै० १, ७, २ ६)
(९) यज्ञामवाऽपृतामाहुर्वशा मृत्युमुपासते (अ०वे० १२, १०, २६)
(१०) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, plate XCVI, seal 510 (मा० ४५)
(११) वही, plate XCVII, seal 587 plate C, seal E (मा० ४६)

इसका अभिप्राय है कि अब वृत्र दोनो 'समुद्रो का जीवन' रूप महिष बन गया है अर्थात् अब आत्मा ने मृत्यु-महिष को दास बना लिया है और अब वह मृत्युञ्जय है।

ओंकार-भेद

इस मृत्यु महिष को जीतने अथवा मारने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि पहले वह विध्वसविरत हो, जसा कि चित्र[1] में 'वृत्रद' नामक महिष से प्रकट है। इसका मार्ग अनेकश बिखरी हुई आत्मज्योति को त्रिवृत करके एकत्रित करने मे निहित है, इसी भाव को चित्र[2] में व्यक्त किया गया है। यहाँ मुद्रा त्रुटित होने से जो ऊपर अवशिष्ट लेख प्राप्त है उसमें 'त्रिवृत इदु' लिखा है और नीचे वही 'एकत्रित' का चिह्न बना है जो आकृति ८ मे है। एकत्रित आत्मज्योति या अग्नि त्रिवृत से अत्रि बन जाती है जिसका प्रतीक भाला या तीर है जो इस चित्र में महिष पर गिरते हुए दिखाया गया है।

इस तीर को मृत्यु-महिष पर छोडने से पूव एक मृग पर छोडना पडता है। आकृति[3] ४६ में तीन पुरुषो को एक साथ शर सन्धान करते हुए और मृग को वेधते हुये दिखाया गया है। यह सम्भवत वही तीन पुरुष हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है और इन्हे जो मृग मारना है वह कामासक्त मन हो सकता है। जिस धनुष से तीर छोडे जा रहे हैं वह शतपथ ब्राह्मण का वाश्रघ्न धनुष[4] है जिसके द्वारा लक्ष्यवेध होने पर ही ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थित सारे विघ्न (वृत्र) समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् इसी धनुष[5] को लेकर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ 'औपनिषद महास्त्र शर' तल्लीनता-पूर्वक (तद्भावगतेन चेतसा) अक्षर ब्रह्मरूपी लक्ष्य पर छोडा जाता है,

---

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, plate XCIX, seal 663 (आ० ४७)

(२) वही, LXXXVIII, seal 279 (आ० ४८)

(३) वही plate XCI, seal 24 (आ० ४६)

(४) श० ५, ३, ५, २७।

(५) धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र शर ह्युपासनिशित सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्य तदेवाक्षर सोम्य विद्धि॥
प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तन वेद्धव्य शरवत्त मयो भवेत॥ (मु० उ० २, ३-४)

यहाँ प्रणव धनु है, आत्मा शर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है जिसको वेधने के लिए तन्मयता आवश्यक मानी गई है। वस्तुत इस शर का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म[1] है जो स्वय प्राण, वाक् तथा मन रूप मे त्रिवृत् है। अत यह शर भी त्रिवृत होता है और इसी को ब्राह्मण-ग्रंथो में समद्ध वज्र कहा गया है[2]। इसी शर के चलने से वृत्र (माया या अज्ञान) का आवरण छिन्न-भिन्न होकर ज्योतिद्वय के प्रतीक दो उकार प्रकट हो जाते हैं और वत्र का आवरण एकादशी अन्नवित्तसमष्टि मे बदल कर मानवात्मा के लिए सहायक हो जाता है। इसी विचार को एक मुद्राचित्र[3] मे व्यक्त किया गया है। इस चित्र के ऊपर एक ओर 'उकारद्वयाग्नि' लिखा है और दूसरी ओर 'एकादशान्न समष्टि' है, इन दोनो के बीच में एक समाधिस्थ व्यक्ति के शिर से नाक की सीध में एक ऊर्ध्वमुख तीर दो उकारो के बीच में से निकलता हुआ दिखाया गया है। इसकी तुलना एक दूसरे चित्र[4] से कर सकते हैं जिसे विद्वानो ने महा-योगी अथवा पशुपति कहा है और जो प्रथम योगी से निम्नलिखित बातो में भिन्न है—

(१) प्रथम चित्र मे जो शीर्षस्थ उकार द्वय दिखाये गये हैं उनको तीर ने एक दूसरे से पृथक् कर दिया है, जब कि दूसरे में दोनो उकार परस्पर सयुक्त होकर वृत्र महिष शृगो के समान हो गये हैं और दोनो के सन्धि-स्थानो पर जो दृढ बन्धनयुक्त वम दिखाई पडता है वह दोनो शृगो, बाहुओ, आंखो, कानो आदि से लेकर समस्त मुख-मण्डल, वक्षस्थल तथा पेट पर भी दिखाई पडता है।

(२) जो महिष शृग योजना शिर पर दिखाई गई है, उसी का लघुरूप शरीर के अधोभाग मे भी दिखाया गया है, जब कि प्रथम चित्र मे इसका सर्वथा अभाव है।

---

(१) तदेतदक्षर ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मन । तदेतत्सत्य तदमृत तद् वेद्धव्य सोम्य विद्धि (मु० उ०, २, २)

(२) वज्रो वै शर श० ३, १, ३, १३, ३, २, १, १३, त्रिवृत वै वज्र कौ० ३, २, १२,२ मु० क० ।

(३) Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro, plate LXXXVII, seal 222 (प्रा० ५०)

(४) MIC Vol I, Pl XII,17, Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro XCIV, seal 420, plate C, F (प्रा० ५१)

(३) अधोभाग मे स्थित महिष शृग-योजना के ठीक नीचे एक और प्रतीक है जिसका ऊपरी भाग सिंधुघाटी का वरुण सूचक 'व' है और निचला भाग वत्रसूचक चिह्न है, जबकि प्रथम चित्र मे यह बिलकुल नही है।

(४) इस चित्र मे सिंहासन के नीचे दो मृग हैं और तथाकथित पशुपति के इधर उधर क्रमश चीता, हाथी, गेंडा और भैंसा दिखाये गये हैं। प्रथम चित्र में सभी पशु गायब हो गये हैं और बाहुओ को छोडकर अन्यत्र का समस्त आवरण भी समाप्त हो गया है।

(५) चित्र के ऊपर लेख है 'वृत्राग्निशुनी प्राणान्नौ इन्द्रेन्दू'। जिसके विपरीत प्रथम चित्र का लेख है "उकारद्वयाग्नि एकादशान्ना"।

वषट् और वृषट्

इस तुलना से स्पष्ट है कि उक्त दोनो चित्रो का विषय एक नही है। जहाँ दूसरे चित्र मे इद्र और इदु (प्राण एव अन्न) वृत्राग्नि के कुत्ते बनकर (समवत दो मृगो के रूप में) अपने को वृत्रान्न से अभिन्न मानते हुये चीता, हाथी, गेंडा और भैंसे के साथ एक ऐसे मानवशरीर की चौकीदारी कर रहे हैं जो नीचे से ऊपर तक सुदृढ आवरण से ढका हुआ है। वहाँ प्रथम चित्र में उकारद्वय (पुरुषद्वय) की अग्निज्योति अन्नसमष्टि से अपने को पृथक् मानती है। ऊपर और नीचे महिषशृगयोजना द्वारा इस आवरण को समवत वृत्र ने मुहरबन्द कर दिया है। उस पर भी वरुण के सकेताक्षर व के नीचे वृत्र के सकेताक्षर वृ को लिखने का अभिप्राय समवत दुहरी मुहरबदी है। यहाँ मानवशरीर को वृत्र ने अथर्ववेदवर्णित 'अष्टचक्रा नवद्वारा' देवपुरी अयोध्या के स्थान पर एक बदीगृह बना दिया है जिसकी तुलना ऋ० ४, २७ के उस बदीगृह से की जा सकती है जिसमे वामदेव अपने को 'शत आयसी' पुरो से आवृत और अनेक चौकीदारो से घिरा हुआ पाता है। ऐतरेय[1] उपनिषद् के अनुसार इस बन्दीगृह का बन्दी वामदेव आत्मा ही है जो श्येनरूप में बडे वेग से आखिर निकल भागता है। सिंधुघाटी के एक अन्य मुद्राचित्र[2] मे इस बन्दी को श्येनरूप मे भाग निकलने के लिये एक दूसरी कल्पना को मूर्त रूप दिया है। वहाँ एक रज्जुवेष्टित लट्ठे (जिसको यूप कहा जा सकता है) के पास एक सुन्दर पुरुष खडा है जिसके शरीर के चारो ओर शिथिल होता हुआ सा रज्जुबन्धन है और

(१) ऐ० उ० २, ५।
(२) Madho Sarup Vats Excavations at Harappa, plate XCIII seal 318 (भा० ५२)

उसके शिर से सवेग उड़ता हुआ एक श्येन निकल रहा है। उसके हाथों में वरुण-सूचक वकार सम्भवत वरुण कृपा के द्योतक हैं। इसको देख कर ऐतरेय ब्राह्मण मे वर्णित शुन शेप की याद आती है जो यूप से बँधा हुआ वरुण से अपनी बधन-मुक्ति के लिये प्रार्थना करता है जो अन्त मे स्वीकार होती है, यद्यपि वहाँ किसी श्येन का उल्लेख नही है। उक्त मुद्रा-चित्र के दूसरी ओर 'अपच वृत्र वषट' लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तथाकथित पशुपति के चित्र में मानव शरीर जिस दुर्भेद्य आवरण से युक्त दिखाया गया ह उसमे महिष-शृगो की दो जोड़ियों के अतर्गत चार वकारो मे वृकार से सयुक्त वकार को मिलाने से पचवृत्रीय वकार माने जाते थे। प्रस्तुत चित्र मे इन वृत्रीय वकारो का लोप होकर उनके स्थान पर षट् वकार आ गए हैं जिनमे से चार तो शीर्षस्थ श्येन के नीचे-ऊपर हैं और दो, जैसा कि बतलाया जा चुका है, दोनो हाथों में आ गये हैं। इस प्रकार 'वषट्' (षट वकार) का निर्माण हो गया है, इसी वषटकार[१] का प्रतीक ब्राह्मण ग्रथो में वज्र माना गया है, क्योकि वषट् करते हुए जिस शत्रु (वृत्र) का ध्यान किया जाता है उसी पर वज्र[२] गिरता है। इससे स्पष्ट है कि जो ध्यान-योग की कल्पना शर या वज्र के प्रतीक में ऊपर देखी गयी वही यहाँ वषट्कार द्वारा व्यक्त की गई है।

इस वषट्कार की कल्पना एक अन्य मुद्राचित्र[३] में एक विशिष्ट प्रतीक द्वारा व्यक्त की गई है। वहाँ पर योगासन मे बैठे पुरुष के शिर पर एक वकारात्मक (सिन्धुघाटी लिपि) आकृति की टोपी है जिससे निकलते हुए पुछल्ले में छ छोटी-छोटी रेखायें उक्त वकार-समेत वषट्कार बनाती हैं। इस वषटकार के ऊपर तीन घु घराले से सीगो का बना एक मुकुट है जिसमें ९ बिन्दु बने हैं। इस प्रकार वषट्कार समेत मुकुट द्वारा एकाक्षरी ओकार का ऊ सा बन जाता है, इसके ऊपर बना हुआ दो का अङ्क सम्भवत ओकार के अवशिष्ट दो अक्षरो (अ और म) के द्योतक हैं जिनके बिना ब्राह्मण[४]-ग्रथो में वह इस लोक सम्बन्धी 'शुद्ध प्रणव' कहलाता है और जिनके सहित मकारान्त ओकार परलोक से सम्बन्धित ह। सि धुघाटी के ओकार में जो नौ बिन्दु दिए गए हैं वे

(१) वज्रो वै वषट्कार (ऐ० ३ ८, कौ० ३ ५, श० १, ३ ३, १४, गो० उ० ३ १ ५)
(२) वज्रो वा एष यद् वषटकारो य द्विष्यात्त ध्यायद्वषटकरिष्यस्तस्मिन्नेव वज्रमास्थापयति (ऐ० ब्रा० ३, ६)
(३) MacKay, Further Excavation at Mohenjodaro Pl LXXXVII 235 (प्रा० ५३)
(४) यच्छुद्ध प्रणव कुर्वन्ति तदस्य लोकस्य रूप, यन्मकारान्तं तदमुष्य लोकस्य (कौ० १४,३)

सम्भवत उन नव वस्तुओ के सूचक हैं जिनसे प्रकृष्ट होने के कारण ओकार 'प्रणव' कहलाता था। इस एकाक्षरी प्रणव के ऊपर एक ओर श्येन पक्षी को आकाश मे उडता हुआ दिखाया गया है जिसके चारो ओर चार बिन्दु सम्भवत चार दिशाओ के सूचक हैं और उसके नीचे सम्भवत 'अ' विशेषण सहित अग्नि लिखा हुआ है। इस सारे विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस चित्र मे आत्मारूपी अग्नि की वह सर्वोच्च अवस्था है जिसमें वह शरीररूपी अयोध्या-पुरा[२] के नौ द्वारो से परे भी स्वतन्त्रतापूर्वक उडान कर सकता है और इसीलिए प्रणव कहलाता है। इसके विपरीत नव द्वारो तक सीमित रहने वाला ओकार 'द्विवर्ण एकाक्षर' ओम् है जो सिन्धुघाटी में स्पष्टत नव म नव[३] म इन्द्र य' कहा गया है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

अब तक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होगा कि सिन्धुघाटी मे केवल मानव व्यक्तित्व के विविध पक्षो पर ही विचार हुआ है, और उससे बाहर किसी अन्य विषय पर कोई चर्चा नही हुई। यह बात यद्यपि अक्षरश सत्य नही है, परन्तु जिस प्रकार परवर्ती भारतीय-दर्शन मे 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त चला उसी प्रकार वह सिन्धुघाटी की विचारधारा का भी मूलमत्र अवश्य रहा प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय है कि मानव-देह के सादृश्य पर ही बाह्य जगत की भी कल्पना की गई। इसका सब से अच्छे उदाहरण वह 'अन्ना० दान्न' प्रतीक है जिसे मार्शल[४] ने धूपदान (Incense burner) और श्री केदार-नाथ शास्त्री[५] ने वेदी कहा है। हडप्पा[६] के एक मुद्रा चित्र में एक ओर यह प्रतीक है और दूसरी ओर शोपक 'सवित्रेन्द्रजस्नजन' लिखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार मानव-देह में जस्न (यज्ञ) और इद्र की कल्पना की गई वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी एक जस्न और सवित्रेन्द्र की कल्पना की गई है।

---

(१) अग्नि शब्द से पूव एक अक्षर है जो पूरी तरह से मुद्रा मे नही आ सका है, पर तु जो भाग आ सका है उससे वह अ अक्षर प्रतीत होता है।

(२) तु० क० अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

(३) Mackay, Further Excavaations at Mohenjodaro, plate LXXXVII seal 240 (पटल ५)

(४) MIC Vol I P 69

(५) New Light on the Indus Evilıgation Vol I, p 30

(६) MEH, plate XCIII, ३२० (भा० ५८)

एक अन्य मुद्राचित्र[१] मे सूर्यमडल से एक दडाकार वस्तु पृथ्वी पर आती हुई दिखाई गई है और उस पर 'सवपन अन असि द्यु' लिखा है जिसका अभिप्राय है कि आकाश भी भूमि पर बीज-वपन करने वाला एक 'अन' है। इसकी तुलना अथर्ववेद के ब्रह्मचारीसूक्त[२] से की जा सकती है जहाँ द्यौ और पृथिवी के बीच एक ऐसे बृहत् शेप की कल्पना की गई है जो पृथिवी पर चारो प्रदिशाओं को जीवन देने वाले रेतस का सिञ्चन करता है। यही सम्भवत पुराणों में शिव के उस महाज्योतिर्लिङ्ग का आधार बना प्रतीत होता है जिसके छोरो का पता ब्रह्मा और विष्णु भी नही लगा सके।

इसी प्रकार की कल्पना सिंधुघाटी के हस्ति-प्रतीक में भी मिलती है। मोहेन-जोदरो से प्राप्त कुछ हाथियो के ऊपर 'अन-अगिन् मन[३], वृन-वषट् मन मान[४]' तथा अन्य[५] मनस्परक शीर्षक जहाँ व्यष्टिगत तथ्यो की ओर सकेत करते हैं, वहा 'हस्तिमान-अन'[६] जैसे शीर्षक ऐसे अन (जीवन तत्त्व) को सूचित कर रहा है जो उक्त व्यष्टिगतपरक 'अन' की तुलना में हाथी के परिमाण का कहा जा सकता है। ऋग्वेद में भी जहाँ व्यष्टिगत तथ्यो के लिये अनेक स्थलो पर बहुवचनात[७] हस्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ समष्टिगत इद्र के लिए एकवचन महाहस्ती[८] शब्द आया है। अन्न की कल्पना के प्रसग में भी यही बात कही जा सकती है। सिंधुघाटी के लेखो में सात, ग्यारह और सोलह अन्नो का उल्लेख व्यष्टिगत तथ्यो के सदर्भ मे ही हुआ है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, परन्तु जब एक मुद्रा पर हाथी के ऊपर 'शतान्न'[९] लिखा मिलता है तो उसको समष्टिपरक 'अन्न' का द्योतक मानना समीचीन प्रतीत होता है। प्रस्तुत मुद्रा की दूसरी ओर जो

---

(१) MEH, Plate XCIV, 341

(२) अभिक्रन्दन स्तनयन्नरुण शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेत पृथिव्या तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र ॥
(अ० वे० ११, ५, १२)

(३) MFE, Plate XCVII, 590

(४) वही, वही, 573

(५) MIC, Plate CXII, 367, 369

(६) MFE Plate XCIX, 648

(७) ऋ० ४, १६, १४, १, ६४, ७, ३, ३६, ७, ६, ८०, ५।

(८) आ तू न इन्द्रक्षुमन्त चित्रं ग्राभ स गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन (ऋ० ८, ८१, १)

(९) MFE, Plate CII, seal 15—a and b

पश्चिमुखी आकृति बनी है उस मे उभरे हुये चार दडाकार अग जहाँ चार दिशाओं के सूचक हो सकते हैं, वहाँ उसका एकमात्र मानव-चरण चतुर्दिक् समष्टि की एकता का सूचक होकर ऋग्वेद के एकपात[1] की याद दिलाता है जो एक स्थान (१०,११७,८) पर एकपात् से द्विपाद, त्रिपाद और चतुष्पाद होने वाला भी कहा गया है। सिंधुघाटी के ककुद्मान् महावृषभ भी इसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों के तथ्यों का प्रतीक है। एक[2] महावृषम पर 'असि अम एकादश अन्न' लेख है, तो दूसरे[3] पर 'इद्रवृआग्निपटान्न' लिखा है—इस प्रकार के शीर्षक निस्सदेह व्यष्टिगत अन्नो की ओर सकेत करते हैं, क्योंकि १६ अन्नो या कलाओं तक व्यष्टि के अन्तर्गत ही समाविष्ट माने जाते हैं। परन्तु एक महावृषम[4] के ऊपर 'अन' शब्द लिखा है और उसके चारों ओर एक-एक दडाकार रेखा खडी करदी है तथा १ का अक लिख दिया है। इससे स्पष्ट है कि यह महावृषम चतुर्दिक् समष्टिगत 'अन' का प्रतीक है। इसी प्रकार 'चतुरग्नि'[5] अथवा चतुर्विध अत्रि[6] शीर्षक वाले महावृषभ भी समष्टिगत अग्नि या अत्रि के सूचक हैं। इस प्रकार के वृषभ की तुलना ऋग्वेद के 'भीम गो' शीर्षक से की जा सकती है जो इन्द्र के लिये (ऋ० ८, ८१, ३) हुआ है। जिस सत्य का यहाँ उल्लेख किया गया है वह 'अम' नामक ज्येष्ठ प्राण[7] है और हडप्पा की उक्त मुद्रा के लेख में भी 'अत्रि अम वृश' कहकर उस पुरुषरूपी वृक्ष को 'अम' नाम ही दिया गया है जो उपर्युक्त 'अप' नामक ज्ञानमय कर्मजल से सिंचित होकर पल्लवित होता हुआ सा माना गया है। इसी 'ज्ञानमय कर्मजल' की कल्पना को मूर्तिमान् करने के लिए, कर्म तथा ज्ञान के प्रतीक सिंहद्वय को परस्पर लडने के स्थान पर, एक साथ नाचता हुआ दिखाया गया है और पुरुष-रूपी वृक्ष ठूठ मे हाथों और पैरो की स्थिति ऐसी रक्खी गई है कि दोनो ओर 'जन' शब्द लिख जाता है तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण के मिलने से प्रसिद्ध कर्म-योगी एव ज्ञानी 'जनक' का नाम चित्रित हो जाता है।

---

(१) ऋ० २, ३१, ६, ६, ५०, १४, ७, ३५, १३, १० ६४, ४, ६५ १३, ६६, ११, ११७, ८।
(२) MFE Plate CII seal 14—ab
(३) वही, Plate XCVII seal 567
(४) वही, Plate LXXXVIII, seal 310
(५) वही, Plate LXXXV, seal 153
(६) वही, Plate LXXXVIII, seal 322
(७) अमो नामासि अमा हि ते सर्वमिद स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपति स मा ज्यैष्ठ्य राज्यमाधिपत्य गमयतु, अहमेवेद सर्वं असानि (छा० उ०, ५, २, ६ ७)

मुद्रा के दूसरे पार्श्व पर एक शृंगाररत स्त्री चित्रित की गई है जिसके सामने एक पुरुष अपने एक हाथ में दपण सा पकडे हुये खडा है। इस पुरुष का दूसरा हाथ मुडा हुआ नकाररूप मे उसके कटि-प्रदेश पर रक्खा हुआ है और उसमें एक 'जकार'रूप वस्तु है जो उक्त नकार तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण के साथ मिलकर पुन 'जनक' शब्द की सृष्टि कर देता है। इस शृगार-चित्र के पास जो उक्त पुरुषाकार समष्टिवण बना है वह प्रथम समष्टिवर्ण के विपरीत इससे विमुख होकर जाता हुआ सा प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त नृत्यरत सिहृद्वय के प्रति पुरुषाकार समष्टिवर्ण की अभिमुखता जहाँ ज्ञानकर्मसमन्वय के प्रति अभिमुखता समझी गई है, वहाँ शृगाररत स्त्री के प्रति उसकी विमुखता तथा 'जनक' की सेवाभावना का युगपत् चित्रण 'कमलपत्रमिवाम्भसा' के निर्लिप्त-भाव को व्यक्त करके विदेह जनक की कल्पना को मूर्त रूप देता है।

अस्तु ये दोनो ही पुरुषाकार समष्टिवण व्यष्टिगत तथ्यो का ही चित्रण करते हैं और उनके वक्षस्थानीय दो सयुक्त मकारो पर शीषस्थानीय मकार मानव व्यक्तित्व के मूर्धा और हृदय-तत्त्वो को ही व्यक्त करते हैं।

यथा देहे तथा देशे

पर तु उक्त व्यष्टिगत समष्टिवर्ण में शीर्षस्थानीय मकार के स्थान पर वृत्त[1] चिह्न स्थापित करके एक ऐसे समष्टिवर्ण की सृष्टि हो जाती है जो समष्टिगत तथ्यों का द्योतक हो जाता है। परन्तु जिस समष्टि के तथ्यो का चित्रण यह समष्टिवर्ण करता है वह भारतवर्ष तक ही सीमित प्रतीत होती है। इसके वक्षस्थानीय दो सयुक्त मकार हिमालय के उस मानस-सरोवर के द्योतक हैं जिनसे भारत की आपद्वय, सिधु एव ब्रह्मपुत्र निकलते हैं और उक्त समष्टिवण के मकारद्वय से उद्भूत होने वाले अपद्वय (जो हाथो से लटकते दो घडे से लगते हैं) इन्हीं दोनो सरिताओ सहित अरबसागर[2] और बगाल की खाडी के प्रतीक हैं तथा इन दोनों मध्य में स्थित 'मेरुदण्डसहित दो पैर' हिमालय से लेकर कुमारी अतरीप तक के सपूर्ण आयाम के और शीर्षस्थानीय वृत्त को मानस-सरोवर से परे उस बर्फीली-पर्वतमाला के विस्तार को माना जा सकता है जो समस्त जलराशि को मानो अपने आवरण में ब दी बना कर रखता है। कहीं-कहीं[3] इस समष्टिवर्ण के साथ

(१) देखिये वर्णमाला के अ तगत 'समष्टिवर्ण'।
(२) दोनो सागरों का पूव और अपर समुद्र के नाम से ऋग्वेद में भी उल्लेख मिलता है।
(३) MFE., Plate LXXXIV, 82

३ का अङ्क रहता है और उसके साथ तीन दकारों को सयुक्त कर दिया गया है जिसका अभिप्राय सभवत यह है कि यह समष्टिवर्ण तीन प्रदेशों के लिये लागू होता है, उक्त तीन दकारो का सयुक्त होना इस बात का सूचक है कि ये तीनो ही प्रदेश एक ही देश (भारत) के दकार में सम्मिलित समझे जाते थे। ये प्रतीक मोहेन जोदरो से प्राप्त एकशृंगी पशु के ऊपर चित्रित है, इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त हस्ती तथा महावृषभ की भाँति एकशृंगी को भी व्यष्टि एव समष्टि दोनो के लिये प्रतीकरूप में प्रयुक्त किया जाता था। एक महावृषभ के ऊपर यह समष्टिवर्ण[1] ऐसा है जिसमे दाहिनी ओर के 'अप' में समुद्रसूचक प-वर्ण नहीं है और पास में वृद्ध इद्र का दडधारी प्रतीक बना है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतीक पूर्व-समुद्र-रहित भारत का प्रतीक था जिसका अधिष्ठाता वृद्ध इद्र माना जाता था। इसके विपरीत अन्यत्र[2] एकशृंगी पशु के ऊपर लिखित 'हिधु-मानन्-इद्र' (युवा) के साथ तीन का अक प्रकट करता है कि पश्चिमी भारत को हिधु-देश कहते थे जो तीन युवा इद्रो के प्रदेश में विभक्त माना जाता था। एक अन्य[3] समष्टिवण में केवल उभय समुद्र-सूचक पकार-द्वय-सहित अर्द्धदण्ड और लका द्योतक चरणयुगल दिखाये गये हैं और उसके साथ पांच का अक है, इससे प्रतीत होना है कि यह प्रतीक केवल समुद्र परिवेष्टित दक्षिण-भारत का सूचक है जिसके अन्तर्गत सभवत. पांच भाग माने जाते थे। अन्यत्र[4] इस प्रतीक के साथ १ का ही अक लिखा है जिससे उक्त पाँच भागों की एकता अभिप्रेत है। एक मुद्रा[5] पर एक ओर ५ के अक से युक्त एक चतुष्कोण है जिससे निकलता हुआ एक नारियल का पेड खडा है, इस मुद्रा के दूसरी ओर 'से द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र' लिखा है। अत सम्भवत यह दक्षिण भारत का उस समय नाम रहा हो, जिसमें से ऐन्द्रमैत्र अब भी आँध्र और मद्रास के नाम सुरक्षित हैं और नारियल का पेड भी दक्षिण भारत की विशेषता है। एकमुद्रा[6] पर वृत्रसेन्द्रवृद्ध' के साथ ११ का अक यह सूचित करता प्रतीत होता है कि वृद्ध इद्र के क्षेत्र (पूर्वी समुद्र-हीन भारत) को कुल ११ क्षेत्रों में विभक्त माना जाता था।

---

(१) MFE, Plate LXXXV, Seal 108
(२) वही, वही, Seal 111
(३) वही, वही, Seal 113
(४) वही, वही, Seal 124
(५) MEH, Plate XCIII, Seal 325
(६) MFE, Plate LXXXV, Seal 121

स्थित पृथिव्या इव मानदड

उक्त ग्यारह क्षेत्रो के सदर्भ में ही सभवत उक्त इद्र-क्षेत्र को 'एकादशान्नदान'[1] कहा गया है और इस लेख के साथ जो समष्टिवर्ण है उसमें शीर्षस्थानीय मानस-सूचक मकार को एक ऐसे लम्बे दण्ड के मध्य मे दिखलाया गया है जो पुरुष के फैलाये हुये दोनो हाथो के अतिरिक्त पूर्व से पश्चिम तक फैले हुये हिमालय की याद दिलाता है। इसमे उभय-समुद्र सूचक दोनो 'अप'-हैं और उत्तर से दक्षिणपयन्त आयाम का द्योतक 'अन' (मेरुदण्ड तथा चरण) बीच मे कुछ भग्न से हो गये हैं जो मुद्रा की खराबी के कारण हैं। परन्तु ऐसे अन्य[2] अनेक समष्टिवर्ण भी हैं जिनमे इसी प्रकार का दण्डाकार हिमालय प्रतीक पुरुषाकृति के फले हुये भुजदड-द्वय सा प्रतीत होता है। कालिदास ने जब कुमारसभव मे हिमालय को पूर्व और पश्चिम समुद्र मे अवगाहन करता हुआ पृथिवी के मानदण्ड के समान कहा, तो सभवत उसकी दृष्टि मे यही समष्टिवर्ण रहा हो जिसमे मानदडवत् आयाम से दो दड निकल कर समुद्रद्वयसूचक घटाकार प-वर्णो तक पहुचते हुये दिखाये जाते हैं।

इन्द्रावरुणौ सम्राजौ

अस्तु, उक्त समष्टिवर्ण एक दृष्टि से भारत राष्ट्रपुरुष का प्रतीक माना जा सकता है जिसके एक रूप मे शीर्षस्थानीय मानस सूचक मकार हिमालयरूपी दडाकार वेमा (भुजदडद्वय) पर स्थित है और उससे दोनों सिरो पर सलग्न 'अपद्वय' के रूप म दानो समुद्र विद्यमान हैं तथा उन दोनो के बीच में, हिमालय से लकापर्यंत भारत, 'अन' शब्द के रूप में, राष्ट्रपुरुष का मेरुदड समेत चरण-युगल बन जाता है। एक अ य रूप में मानस सूचक मकार के स्थान पर वृत्रचिह्न आ जाता है जो तिब्बत-समेत हिमाच्छन्न पर्वतप्रदेश का द्योतक प्रतीत होता है। मोहेनजोदरो से प्राप्त एक[3] महावृषभ का ऐसा चित्र भी है जिसके ऊपर दोनो प्रकार के समष्टिवर्ण हैं और साथ ही 'इनन्द्रावरुण' लेख भी है। यह लेख उन दो सम्राटो की याद दिलाता है जिन्हें ऋग्वेद[4] मे दो महाव्रत तथा क्रमशः सम्राट्-

---

(१) MFE XCVIII, Seal 628

(२) MFE Plate XCVIII, 602, 633, 639, 635, XCIX, 678

(३) MFE, Plate XCVIII, 611

(४) सम्राळ य स्वराळन्य उच्यते वा महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू (ऋ० ७,८२,२)

स्वराट् कहा गया है और जिनका नाम इद्र एव वरुण है । अत यह मानना अनुचित न होगा कि उक्त दोनों समष्टिवर्णो में से वृत्रपरक वरुण का तथा मानसपरक इद्र का प्रतीक है और सिंधुघाटी-परम्परा में भी इन्ही दोनो देवो को सयुक्त रूप में, ऋग्वेद[1] के समान ही राष्ट्र का राजा माना जाता था । कोई भी वृत्र-परक समष्टिवण जसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देवपक्ष का तभी द्योतक हो सकता है जब वह वषट् से युक्त हो जाय । अत उक्त वृत्र-परक समष्टिवर्ण इद्र के सायुज्य में राष्ट्राधिपति होने के लिये वषटकार से युक्त ही माना जाता होगा, इसकी पुष्टि मोहेनजोदरो से प्राप्त 'वृत्रवषट इन्द्र-अन-राष्ट्र' लेख[2] से होती है । इस लेख के नीचे एक शान्त दक्षिणावत चीता है जिसके सामने देवत्वसूचक वरुणपात्र रक्खा हुआ है । इस लेख मे जो इद्र-चिह्न है वह दडधारी वृद्ध इन्द्र का है जो समस्त भारतराष्ट्र का अधिपति माना जाता था और उसके सायुज्य मे रहने वाला 'वरुण' अथवा 'वृत्रवषट्' समानार्थक थे, क्यो कि वषट् का अर्थ है 'वरुण के आधिपत्य में आये हुये 'पट् देव' इसीलिए एक मुद्रा पर 'मननवृत्रजस्नवृताग्न' लेख[3] के साथ दो पुरुष (जो इद्रावरुण हो सकते हैं) मिलकर 'वषट्' को एक दड (पृथिव्या इव मानदड) से बाँधकर कधो पर लिये जा रहे हैं और उसी मुद्रा पर लेख के नीचे एक दक्षिणावर्त चीता अकारयुक्त प वर्ण के सामने शान्तभाव से खडा है । वृद्ध इद्र तथा इद्रावरुण के राष्ट्र सबन्धी लेखों की तुलना एक अन्य लेख[4] से भी की जा सकती है जिसमें 'शत[5] अनानि द्वादशाग्न्याग्नि भारअराष्ट्र' स्पष्ट अक्षरो मे अकित है और वरुणपात्र सहित एक दक्षिणावर्त गौर युद्धोन्मत्त मुद्रा में खडा है । कम से कम दो अन्य मुद्राचित्रो पर 'भारत्र' शब्द का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक में गौर वृषभ के साथ 'शताग्नवत् नाम भरत्र[6]' तथा दूसरे में हस्ती के साथ 'मित्राश्वसरिर भारत्र[7] एकादश'

(१) आवा राजानावध्वरे ववृत्या हव्येभिरिद्रावरुणा नमेभि (ऋ० ७,८४,१) अह राजा वरुणो मह्य तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त ऋतु सच ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रे (ऋ० ४,४२,२)
(२) MFE, Plate LXXXVIII, Seal 283
(३) वही, Plate XCVI, Seal 518
(४) वही, Plate LXXXV, Seal 129
(५) तुलना कीजिए-शत मशाऽग्नि MFE, Plate LXXXV, Seal 142
(६) MIC , Plate CX, Seal 319
(७) MEH , Plate XCI, Seal 227

लेख मिलता है। यहाँ भारतराष्ट्र की अग्नि के साथ जिन शत अन्नो का उल्लेख हुआ है उन्ही को हम ऊपर 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के प्रसग में महाहस्ती के सदर्भ में भी देख चुके हैं, अत. या तो सिन्धुघाटी-परपरा में 'शत अन्न' से असख्य अन्नो का अभिप्राय होता था अथवा ब्रह्माण्ड एव भारतराष्ट्र की समष्टि एक ही मानी जाती होगी। अस्तु, इतना तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि भारतराष्ट्र के साथ शतान्न, इद्रावरुण सम्राट् तथा वृद्ध इन्द्र की कल्पनायें सबद्ध मानी जाती थी। एक महावृषभ[1] के चित्र, पर राष्ट्रशब्द से पूर्व दा वर्ण अस्पष्ट हैं, परन्तु 'अन्ना' शब्द साफ दिखाई दे रहा है, सभवत यह लेख भी भारतराष्ट्र के उक्त शतान्न की ओर ही सकेत करता हो।

भारतराष्ट्र के विभिन्न घटक

सभवत शतान्न भारतराष्ट्र के अन्तर्गत अनेक इकाइयाँ थी जिनको भी राष्ट्र कहा जाता था। वृत्रराष्ट्र[2] सभवत तिब्बत-सहित समस्तहिमाच्छन्न पर्वतीय प्रदेश का नाम था, इसी की ओर वृत्रजन[3] एकादश वरुण, वृत्र एकादश,[4] वृत्र-सेन्द्रवृत्रएकादशी,[5] वृत्रसीमाएकादश,[6] वृत्रसेन्द्राग्निराग्निवृत्रजनसेन्द्र,[7] तथा वृत्र-एकादशी[8], वृत्रर-नर-अन-राष्ट्रदान[9], वृत्रएकादशाग्नि[10] एक अन्न तथा वृत्रमानस पानपा[11] आदि अनेक मुद्रालेख सकेत करते प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार समस्त पश्चिमी भारत का नाम 'हिन्धु' प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त पूर्वी भारत सभवत 'इरा'[12] कहलाता था और ऋग्वेद[13] में 'सिधवा' और 'इरावती.' नाम से जो नदियो का वर्गीकरण मिलता है वह सभवत इसी तथ्य पर आधारित

(१) MFE , Plate LXXXIX, Seal 362
(२) MEH, Plate LXXXIX, 124
(३) MEH., Plate LXXXIX, Seal 110
(४) MEH , Seal 146
(५) वही, Seal 145
(६) वही, Seal 139
(७) MEH , Plate XCI, 241
(८) वही, Plate LXXXVIII, 93
(९) वही, वही, Seal 87
(१०) वही, वही, Seal 78
(११) वही, Plate LXXXIX, seal 166
(१२) वही, Plate LXXXVII, seal 80

था। एक महावृषभ प्रतीक पर अंकित 'अनदमा'[१] का अर्थ 'प्राणो का दमन करने वाला' होता है जो वर्तमान अंडमान के 'कालापानी' लांछन को याद दिलाता है, परन्तु यह आध्यात्मिक प्रतीक भी हो सकता है।

इसी प्रकार दक्षिण भारत के जिस क्षेत्र के विषय मे नारियल वृक्ष के साथ 'सेन्द्रवृन ऐन्द्रमंत्र' लेख का उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके घटको में से कुछ के पृथक् नाम भी मिले हैं। एक महावृषभ-मुद्रा के ऊपर 'मंत्र'[२] शब्द है और दूसरी[३] पर सेन्द्र तथा तीसरी पर वृत्रेन्द्रमंत्र[४] महिषचित्रो के साथ लिखा मिलता है। बहुत समव है कि उपर्युक्त 'मित्राश्वसरिर भारत्र एकादश' भी दक्षिण भारत के लिए हो आया हो, क्यो कि एक तो इस लेख के साथ हस्ती का चित्र है जो मैसूर में अब भी पकडा जाता रहा है, दूसरे सरिर-शब्द ब्राह्मण[५]-ग्रन्थो मे 'सलिल' का रूपातर है जो इस लेख में समुद्र-सलिल का सकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ हो सकता है। वैसे वैदिक साहित्य मे सरिर-शब्द पुलिंग और नपुसक दोनो लिंगो में प्रयुक्त हुआ है जिनमे से शतपथ के अनुसार प्रथम का अर्थ वायु[६] तथा दूसरे का आप[७] होता है। अत यहाँ भी दक्षिण भारत का वायु तथा समुद्र दोनों ही अभिप्रेत हो सकते हैं।

ब्रह्मदेश या बर्मा

एक मुद्राचित्र[८] में एक विचित्र महिष है जिसके सिर पर सिंधु-लिपि के तीन उकार सदृश चिह्नो को परस्पर सयुक्त करके तीन सींगो की रचना की गई है और उसके ऊपर जो लेख है उसमे भी 'वृम' शब्द के साथ उकार बना है जिसमे ३ का अक लिखा है। हो सकता है कि यह 'वृम उ' वर्तमान बर्मा अथवा उसके 'जन' का सूचक हो और उसके साथ प्रयुक्त ३ का अक उस देश अथवा उसके जनसमुदाय के किसी वर्गीकरण का सूचक हो। 'वृम' शब्द के साथ ३ का

(१) MEH, Plate XCI, seal 233
(२) वही, 236
(३) MEH, Plate XCI, 235
(४) MIC, Plate CIII, seal 10
(५) आपो वै सरिरम, श० ७.५.२.१८, आपो इवा इदमग्रे सलिलमेवास, श० ११.१.६.१.
(६) अय वै सरिरो योऽय (वायु) पवते (श० १४, २, २, ३)
(७) आपो वै सरिरम् (श० ७, ५, २, १८)
(८) MEH, Plate XCI, seal 235

अक अन्यत्र[१] एकशृगी पशु के ऊपर भी लिखा मिला है, परन्तु उसके साथ एक चिह्न और है जो अभी तक पढा नही जा सका है। ब्रह्मदेश का तत्कालीन भारत के अन्तगत माना जाना असम्भव नही है, क्योकि सिंधु एव ब्रह्मपुत्र नामक नदियो सहित पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्रो के सूचक चिह्न उक्त समष्टिवर्णो के 'अपद्वय' मे सम्मिलित हैं ही, और इसके अतिरिक्त वे स्वतन्त्र रूप से भी प्राप्त हुये हैं। एकमुद्रा[२] पर दोनो ओर उक्त समष्टिवर्ण के समान ही दोनो समुद्रो को प-वर्णों से सूचित किया गया और उनसे सयुक्त दो अ वर्ण परस्पर मिलकर अर्द्धचन्द्रवत होकर सिंधु एव ब्रह्मपुत्र के सूचक हो गये हैं और उसके पास लिखा 'अन' शब्द इस प्रकार सिंधु ब्रह्मपुत्र क्षेत्रीय भारत के उस प्राणिवग का सूचक प्रतीत होता है जिसका प्रतिनिधिस्वरूप एक पशु 'गर्दभ' सा लेख के साथ चित्रित है। यदि 'वृम' वर्तमान ब्रह्मदेश के लिए ही उस समय प्रयुक्त होता था, तो उसमे उस समय वदिक सस्कृति का प्राधान्य ही रहा प्रतीत होता है, क्योकि 'वृम' शब्द के साथ लेखो मे इदु[३], अग्नि[४], जर्[५] आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। एक लेख[६] मे 'नमन वृम मम' कहकर सभवत. इसी प्रदेश को नमस्कार किया गया है। एक मुद्राचित्र पर हाथी के साथ उपर्युक्त पुरुषाकार समष्टिवर्णो मे से एक ऐसे ढग से बनाया गया है कि उसमें दो समुद्र-सूचक घटो में से वामपक्षीय घट नही है, अत. सभवत यह उस राष्ट्र-पुरुष का प्रतीक है जो पश्चिमी समुद्र (अरबसागर) रहित भारत का द्योतक हो, इसके अन्तर्गत स्वभावत ब्रह्मदेश भी सम्मिलित होता होगा। इस हस्ती के ऊपर उक्त समष्टिवर्ण के अतिरिक्त 'जश्नराष्ट्राग्निमात् मित्र' लिखा है और साथ मे ३ का अक भी बना है। यदि ब्रह्मदेश के साथ ३ के अक की विशेषता का उपर्युक्त अनुमान ठीक है, तो इस चित्र से भी पूर्वी भारत के 'ब्रह्मदेश' की ओर ही सकेत अभीष्ट हो सकता है।

---

(१) MIC, Pl CIII, seal 10
(२) वही, Pl LXXXVII, seal 74
(३) MIC, Pl CXVI, seal 2
(४) MIC, Pl CXI, seal 334
(५) वही, Pl CXV, 550
(६) वही, Pl CV, 58
(७) वही, Pl CXV, seal 548

भारतीय प्रदेशो के नामोल्लेख का अभिप्राय

भारत के विभिन्न प्रदेशो का नामोल्लेख, चाहे आज के समान, उस समय के किसी राजनीतिक एकीकरण का सूचक भले ही न हो, परन्तु इसमे कोई सदेह नहीं कि देश के विभिन्न भाग वैदिक देवताओ के अधिकार-क्षेत्र मे उसी प्रकार समझे जाते थे, जिस प्रकार मानव देह। जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि उस समय पुरुष और प्रकृति, शक्तिमान् और शक्ति अथवा आत्मा और परा (शक्ति) ब्राह्मणकाल[1] के समान समस्त सृष्टि के मूल मे समझे जाते थे, क्योकि इन्ही (आत्मा और परा) के आदिवर्णों को लेकर प्रथम सृष्टि को आप या अप कहा जाता था। ब्राह्मणग्रथो[2] के अनुसार आदिसष्टि 'आप' मूलत द्विविध थे—एक प्राण और दूसरे अन्न (या आत्मदेह), परन्तु इन्ही से सारे देवता[3] उत्पन्न हुये और ये ही देवो के प्रिय धाम[4] माने जाते थे। हम देख चुके हैं कि 'अप' से ही सिंधुघाटी मे भी इन्द्र, वायु (आदित्य) और अग्नि की उकारात्मक ज्योतियो का प्रादुर्भाव माना जाता था तथा पराशक्ति वरुण और वृत्ररूप में द्विविध होकर नानाप्रकार की सष्टि रचती हुई मानी जाती थी। अत कोई आश्चर्य नही कि भारतभूमि के विभिन्न भाग इद्र, मित्र, वरुण, वत्र आदि सबधित माने जाते हो। शक्तिसगमतत्र[5] के अनुसार भी किसी समय देश के विभिन्न भागो के नाम इन्द्रप्रस्थ, यमप्रस्थ, वरुणप्रस्थ, कूर्मप्रस्थ तथा देवप्रस्थ कहलाते थे जिनमे से इद्रप्रस्थ के अन्तगत उत्तर में मथुरा, वृन्दावन, कोलदेश, हस्तिनापुर, पश्चिम मे द्वारका तथा दक्षिण मे गदावर्त-क्षेत्र तथा मध्यप्रदेश का वराही क्षेत्र सम्मिलित था। यमप्रस्थ के अन्तगत प्राय समस्त दक्षिण भारत माना जाता था और व्यकटेश, सोमेश्वर, सप्तश्रृग, मायापुर, शलावर्त आदि क्षत्र उसी मे माने जाते थे। वरुणप्रस्थ पश्चिम मे मक्केश्वर (मक्का) तीर्थ,

---

(१) गो० ब्रा० १, १, २, श० ब्रा० ६, १, १ ६, ११, १, ६, १ तु० क० अप एव सस र्जादौ (मनु० १, ३)

(२) श० ७, २, ४, १०, तु० क० ऐ० ६, ३०, तै० ३, २, ५, २, श० ३, ८, २, ४, जै० उ० ३, १०, ६, ता० ६, ६, ४।

(३) आपो वै सर्वे देवा (श० १०, ५, ४, १४)

(४) आपा वै देवानां प्रिय धाम (तै० ३, २, ४, २)

(५) इद्रप्रस्थ यमप्रस्थ वरुणप्रस्थमेव च। कूर्मप्रस्थ महादेव देवप्रस्थं च पञ्चमम्॥ (३, ८, १-२)

उत्तर में हिंगुला नदी, पूर्व में राजावर्त (राजस्थान?) तक फैला हुआ था जिसके अन्त मे सात सागर थे और पास में समुद्र थे। इसी प्रकार पूर्वी भारत कूर्म-प्रस्थ कहलाता था जो दक्षिण में गोकर्णेश (आधुनिक उत्तरप्रदेश का उत्तरपूर्वी प्रदेश), पूर्व मे कामाख्य (आसाम) तथा वैरजनाथ (आधुनिक वजनाथ) उत्तर मे मानस सरोवर तथा पश्चिम में सारदा नदी तक फैला हुआ था। इन पांच प्रस्थो के अन्तगत जिन ५६ प्रदेशो को गिनाया[1] गया है, उससे प्रतीत होता है उनमें मक्का से लेकर लका तक का मन्धव-नामक समुद्रतटवर्ती पवतीय प्रदेश, रत्नाकर (वगाल की खाडी) से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के अन्तिम छोर तक बग-देश, कामरूप, भूटान, नेपाल, काश्मीर, खुरासान तथा दक्षिण के केरल, कोकण, कर्णाट, तैलग तथा सिंहल का भी समावेश होता था।

तामिल तथा बौद्ध-परपरा का प्रमाण

भारतभूमि के उक्त सास्कृतिक एकीकरण तथा वैदिक नामकरण की पुष्टि तामिल के प्राचीन साहित्य से भी होती है। तोलकप्पियम्[2] के अनुसार, हमारी भूमि मुल्लइ (वन), कुरुञ्जी (गिरिभाग) मारुदम (जलभाग) तथा नेदल (कृषिभाग) नामक चार भागो मे विभक्त थी जिनके अधिष्ठाता क्रमश विष्णु, सुब्रह्मण्य (स्कन्द), वरुण तथा इद्र समझे जाते थे। डा० कृष्णस्वामी आयगर[3] ने प्राचीन तामिल के सगम-साहित्य से प्रमाण देकर बतलाया है कि राष्ट्रभूमि से जिन देवो का घनिष्ठ सवध माना जाता था उनमे विष्णु और रुद्र, सुब्रह्मण्य और इ द्र मुख्य थे। शीलप्पाधिकारम्[4] नामक तामिल ग्रन्थ प्राचीन कावेरीपत्तनम मे शिव, सुब्रह्मण्य, विष्णु और इद्र के मदिरों का उल्लेख करता है। अकित्ति[5] जातक के अनुसार अगस्त्य ऋषि वाराणसी के पास से चलकर दक्षिण में कावेरी-पत्तनम गये और वहां से चलकर कारद्वीप (जो अहिद्वीप भी कहलाता था) में रहने लगे जहां उन्होनें भिक्षुकरूप मे आये हुए इन्द्र को स्वय भूखे रहकर भी अपना भोजन दे दिया। मणिमेखलाइ-नामक बौद्ध ग्रन्थ में अगस्त्य ने परशुराम

---

(१) शक्तिसङ्गमत न्त्र ३ ७, १ ५६।
(२) दी प्राइव सिस्टम आव रिलीजन, पृ० १३१।
(३) सम कन्ट्रीब्यूशन्स आव साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर, पृ० ५३।
(४) वही, पृ० ५५।
(५) वही, पृ० ४६-५०।

से भयभीत हुये काडम नामक राजा को शरण दी और एक अन्य चोल राजा को अट्ठाईस दिवसीय इन्द्रमहोत्सव मनाने का आदेश दिया जिसे देखने के लिये कैलास आदि पर्वतों से सभी देव कावेरीपत्तन आ गये।

उपर्युक्त 'शीलप्पाधिकारम्' नामक प्राचीन तामिल काव्य में उल्लिखित एक ऐसे ही प्रसग को डा० वासुदेवशरण[1] अग्रवाल ने निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है—

> 'एक विद्याधर ने अपनी प्रियतमा के साथ रजताद्रि कैलास पर मदनोत्सव मनाया। उसी समय उसे ध्यान आया कि दक्षिण भारत की पुहार-नामक राजधानी में इसी समय इन्द्रमह हो रहा है। उसने अपनी स्त्री से कहा—प्रिये, चलो पुहार का उत्सव देखें जहाँ महाभूतम् साक्षात् रूप मे उस हवि का भक्षण करते हैं जो असुरो के बाणो से भयभीत इन्द्रपुरी की रक्षा करने वाले पुरुषव्याघ्र मुचुकुन्द की सहायता करने के उपलक्ष मे उसे दी जाती है। चलो वहाँ उन पाँच मडपो को भी देखेंगे जिनका वास्तु-सौन्दय अद्भुत है, जो इन्द्रप्रदत्त हैं और जिन्हे अमरावती के रक्षक मुचुकुन्द के पूर्वजो ने पृथ्वी पर बनाया है।'

वैदिक सस्कृति के सदर्भ मे दक्षिण भारत का शेष भारत के साथ एकीकरण तामिल साहित्य से बराबर प्रमाणित होता है। तोलकप्पियम के कुछ सूत्रो पर भाष्य करते हुये आवूर के मूलकिळार-नामक कवि की एक अतिप्राचीन तामिल कविता को उद्धृत किया गया है जिसका उल्लेख करते हुये डा० कृष्णस्वामी[2] आयगर ने लिखा है कि यह कविता एक अब्राह्मण द्वारा कौण्डिन्यन्-नामक ब्राह्मण की प्रशसा मे लिखी गई है और इसके अनुसार कौण्डिन्यन् का जन्म ऐसे ब्राह्मण वश मे हुआ था जो समस्त वेद वेदागो मे पारगत था और जिसने वैदिक धर्म के सत्य को इक्कीस प्रकार के श्रौत यज्ञो द्वारा अभिव्यक्त किया था। कवि इस वश के ब्राह्मणो की प्रशसा करते हुये आगे[3] कहता है, आप का जन्म ऐसे कुल में हुआ है। आप मृगाजिन तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। आपकी पति-व्रता धर्मपत्नियाँ ऐसी मणियो को धारण करती हैं जो महायज्ञो के ऋत्विजों की पत्नियों के योग्य हैं, वे परम सुन्दरी हैं और कुलमर्यादा के अनुसार आचरण

(१) भारत की मौलिक एकता, पृ० १३३-१३४।
(२) सम कन्ट्रीब्यूशस आव साउथ इडिया टु इडियन कल्चर (पृ० ५१)
(३) वही पृ० ५२।

करती हैं। आप चाहे वन में रहें या गाँव में, वे विविध प्रकार की गायों की सेवा द्वारा घी को पानी की तरह बहाकर आपके आदेश का पालन करती हैं। उनकी सहायता से असख्य यज्ञो को करके और समस्त पृथिवी पर अपना यश विस्तार करके, आप यज्ञो की समाप्ति पर अभ्यागतो को वृहद्‌भोज देकर कीर्तिमान् होते हो। हमारी कामना है कि हम आप की इस उच्चप्रतिष्ठा को देखने का सौभाग्य निरतर पाते रहे आप पृथ्वी पर जहाँ भी रहो, उत्तुगशृंग हिमालय के समान ध्रुव रहो और स्वय हिमालय के समान निरतर वृष्टि करते रहो। 'डा० आयगर' अपने ग्रथ मे सगम साहित्य के ऐसे प्रसगो का भी उल्लेख करते हैं जहाँ राजसूय यज्ञ करनेवाले महान् चोलराजा तथा एक हिमालय तक राज्यविस्तार रखने वाले चेह वशी राजा का भी प्रसग आता है। प्राचीन तामिल-साहित्य के इन उल्लेखो से सिद्ध है कि गौतम बुद्ध से पूर्व ही दक्षिण भारत के लोग भी समस्त भारत को एक मानते थे और उस समय वहाँ वैदिक सस्कृति का साम्राज्य था। अतः यदि मोहेनजोदरो और हडप्पा के मुद्राचित्रों मे भारत के विभिन्न भागो के प्रसग मे वदिक देवो आदि का उल्लेख पाया जाय, तो सर्वथा स्वाभाविक है।

उपसहार

अस्तु, मोहेनजोदरो और हडप्पा से प्राप्त मुद्राचित्रो के आधार पर सिंधु-घाटी-सभ्यता का ऊपर चित्र उपस्थित किया गया है, उससे यह तो स्पष्ट ही है कि वह सभ्यता निश्चित रूप से वैदिक थी और उसमें, आरण्यको और उपनिपदो की भाति, वदिक देवो को आध्यात्मिक एव आधिदैविक अर्थों में ग्रहण किया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप विकसित हुये प्रतीकवाद के अन्तगत बाह्य प्रतीको द्वारा आध्यात्मिक एव दार्शनिक तथ्यो को व्यक्त किया जाता था।

सस्कृत-भाषा

अभिव्यक्ति का माध्यम निस्सदेह सस्कृत-भाषा थी परन्तु उसकी निम्नलिखित विशेषतायें प्रतीत होती है —

(१) स के स्थान पर 'सि धु' जैसे शब्दो में 'ह' का उच्चारण होता था।

(२) वृक्ष जैसे शब्दों में 'क' ध्वनि के स्थान पर 'ख' ध्वनि उच्चरित होती थी।

---

(१) सम मद्रीब्यूशस आव साउथ इंडियन कल्चर, पृ० ११ १४।

(३) सभवत आधुनिक सस्कृत के 'क्त' प्रत्यय के स्थान पर त न हो 'त्र' होता था, यथा भारत्र के लिए 'भारत', सुवृत के लिये सुवृत्र।

(४) प्रथमाविभक्ति में विसर्ग के स्थान मे प्राय नकार का प्रयोग होता था।

(५) समस्त पदो में कभी-कभी सधि-नियम लागू नही होते थे।

(६) सर्वत्र विभक्तियो का प्रयोग अनिवार्य नही प्रतीत होता।

विश्व का प्रथम मुद्रणालय

दार्शनिक विषयो पर इतनी अधिक मुद्राओ का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि इनका प्रयोग भूर्जपत्र आदि पर मुद्रणकार्य करने के लिये ही होता होगा अत. ऐसी स्थिति मे सिंधुघाटी की इन मुद्राओ को विश्व के सर्वप्रथम ज्ञात मुद्रणालय के उपकरण ही मानना पडेगा। प्राय विद्वानो की यह सम्मति है कि ये मुद्रायें व्यक्तियो अथवा देवताओ के नामो की हैं जिनका प्रयोग जादू-टोना तथा तावीज आदि के लिए भी होता होगा, परन्तु इन मुद्राओ पर लिखे लेखो से इस सम्मति की पुष्टि नहीं होती। उदाहरण के लिये आकृति स० ८ के मुद्राचित्र का उपयोग निस्सदेह श्वेताश्वतर-उपनिषद् के कुछ श्लोको के अर्थ को समझाने के लिए होता होगा। इसी प्रकार ऊपर उल्लिखित प्राय सभी मुद्राओ का विषय मुख्यत. दार्शनिक ही प्रतीत होता है।

तथाकथित वृक्षपूजा और पशुपूजा

प्राय विद्वानो ने वृक्षपूजा और पशुपूजा को सिंधुघाटी के धर्म का मुख्य अग माना है, परन्तु मुद्राचित्रो तथा उन पर प्राप्त लेखो से इस बात की पुष्टि नही होती। वृक्ष और पशु वहाँ सर्वत्र दार्शनिक काव्य-प्रतीकों के रूप मे प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। आकृति स० २,५,६ और ८ में चित्रित वृक्षो और पशुओ की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उसमे पूजा का कोई सकेत नही मिलता। इसके विपरीत वे स्पष्टत दार्शनिक प्रतीक ही प्रतीत होते हैं और इस प्रतीकवाद के मूल मे जो दार्शनिक विचार-धारा है उसकी पुष्टि वैदिक उद्धरणो से भी की गई है।

वृक्ष को प्रतीकरूप मे ग्रहण किये जाने की परिपाटी उपनिषदों मे विशेष रूप से स्पष्ट हुई। उदाहरण के लिए, बृहदारण्यक[१]-उपनिषद् के निम्नलिखित

(१) बृ० उ० ३, ६, १-७।

स्थल को प्रस्तुत किया जा सकता है :—

"वनस्पति वृक्ष जैसा होता है, पुरुष भी वैसा ही होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और पुरुष के शरीर में पत्तो की जगह रोम होते हैं, पुरुष के शरीर में जो त्वचा है, उसकी समता में इस वृक्ष के बाहरी भाग मे छाल होती है। पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है और वृक्ष की त्वचा से भी गोद निकलता है। जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुये पुरुष-शरीर से रक्त प्रवाहित होता है। पुरुष के शरीर मे मास होता है, वनस्पति के शर्करा (छाल का भीतरी भाग), पुरुष के स्नायु होते हैं और वृक्ष मे किनाट जो स्नायु की भाति स्थिर होता है। पुरुष के स्नायुजाल मे जैसे हड्डियाँ हैं, वैसे ही किनाट के भीतर काष्ठ है, मज्जा तो दोनों में समान है।"

इस शरीररूपी वृक्ष का प्रेरक अहनाम आत्मा है, इसी का उल्लेख त०उ०[1] मे इस प्रकार किया गया है—

अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्ति पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि।
द्रविण सुवर्चसम् सुमेधा अमृतोक्षित॥

सिंधुघाटी के चित्रो में वृक्षरूपी शरीर से सबद्ध पुरुष यही है।

पशु को प्रतीक रूप में ग्रहण किए जाने की प्रथा भी वैदिक साहित्य में बहुत प्रचलित रही है। हस आदि पक्षी के रूप में तो आत्मा को आज तक चित्रित किया जाता है। तै०उ० में उसके शिर, पक्ष-द्वय, पुच्छ आदि का वर्णन अनेक ढग से किया गया है उसका एक उदाहरण[2] यह है—

तस्य प्रियमेव शिर। मोदो दक्षिण पक्ष। प्रमोदो उत्तर पक्ष।
आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा॥

यह आत्मा ही नवद्वार वाले शरीररूपी नगर मे रहने वाला हस है जो बाह्यजगत् के चराचर का स्वामी[3] भी है। बाह्यजगत के सदर्भ में, आत्मा की सबसे अच्छी कल्पना सम्भवत मेध्य अश्व के रूप में पाई जाती है। इसमे एक

(१) तै० उ० १-१०।
(२) तै० उ० २-५।
(३) नवद्वारे पुरे देही हसो लेलायते बहि।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च। (श्वे० उ० ३, १८)

विशेषता है कि इसके चार रूप हैं जो क्रमश हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व[1] कहे जाते हैं। "उषा इस मेध्य अश्व का शिर है, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख और सवत्सर उसका आत्मा है। द्युलोक इसकी पीठ है, अतरिक्ष उदर, पृथिवी पादस्थान, दिशाए पार्श्वभाग, प्रदिशायें पसलियाँ, ऋतुएं अग, मास और अर्धमास पर्व, दिन-रात प्रतिष्ठा, नक्षत्र अस्थियां, आकाश मांस, बालू ऊवध्य (उदर का अर्धजीर्ण अन्न), नदियाँ नाडियाँ हैं, पर्वत यकृत् और हृदय के मांस खड, औषधियाँ और वनस्पतियाँ रोम हैं, उदयोन्मुख सूय ऊपरी भाग, अस्तोन्मुख सूर्य निचला भाग, जमुहाई विद्युत, शरीर का हिलना घनगर्जन, मूत्रत्याग वर्षा तथा हिनहिनाना उसकी वाणी है। इसने हय होकर देवताओ को, वाजी होकर गन्धर्वो को, अर्वा होकर असुरो और अश्व होकर मनुष्यो को वहन किया है।" इस चित्र की प्रतिकृति मोहेनजोदरो से प्राप्त मुद्राचित्र[2] मे देखी जा सकती है। यद्यपि इस चित्र का केवल स्कन्ध से ऊपर का भाग ही अवशिष्ट ह, परन्तु उसका खुला हुआ मुख, उसकी सूर्यमण्डलाकार आंख, कानो के पीछे अलकरणरूप मे लिखा 'उषा' तथा उससे नीचे किरण-जाल-सा अलकरण उपर्युक्त अश्व-शिर की याद दिलाते हैं। परन्तु इसकी विचित्रता यह है कि इसके निचले जबडे मे जो दो दांत दिखाई पडते हैं वे कुत्ते आदि हिंसक पशु के हैं और ऊपर के जबडे में एक भी दांत नही है। इसका कारण यह है कि यह उसी चीते या व्याघ्र का मेध्य रूपान्तर समझा जाता था जो 'वृत्राश्व' शीर्षक ग्रहण करके दक्षिणावर्त-रूप पाकर भी 'नाऽग्नि अग्नि न' कहा[3] जाता था क्योकि वृत्रत्वप्रधान जीवात्मा अमेध्य होने से अग्निरूप नही हो सकता, मेध्य होने के लिये उसमे ज्ञानमयी उषा का किरणजाल एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसी प्रकार जो दो सीगवाला महिष वामावत-रूप मे वृत्रत्व का प्रतीक है, वही एक स्थान[4] पर दक्षिणावर्त होकर तीन अर्द्धचद्राकार सीगो को सयुक्त रूप मे धारण करके मेध्य बनता है। ऐसा ही एक विचित्र पशुप्रतीक 'अश्ववृत्र मन' शीर्षक[5] ग्रहण किये हुये है, इसके सींग महावृषभ के, सूड हाथी

---

(१) वृ० उ० १, १-२

(२) MFE, Plate LXXXVII, seal 259

(३) वही, वही, seal 260

(४) MEH, Plate XCI, seal 240

(५) MEH, Plate XCI, seal 249

की, पूंछ सर्पाकार तथा मुख मनुष्य का है। यही प्रतीक अन्यत्र[1] भी पाया जाता है, परन्तु अंतर इतना है कि वहाँ उसका मनुष्य-मुख आवरणयुक्त होने से दिखाई नही पडता। इस प्रतीक मे जो रज्जुवत् आवरण का लपेटा दिखाया जाता है, उसको कुछ विद्वानो ने पुष्पमाला समझ कर सिंधुघाटी में पशुपूजा के प्रचलन को स्वीकार किया है, परन्तु इन प्रतीको में प्राप्त शीर्षकों से स्पष्ट है कि यह आवरण ११ अन्नो[2], तथा वरुण नागो[3] का है और जिन्हे पुष्पमाला कहा गया है वह वस्तुत वषटकार-रूपी रज्जु का लपेटा है। एकशृंगी, त्रिशिरा आदि पशुओं का जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है उससे भी स्पष्ट है कि ये पूजे जाने वाले साधारण पशु नही, अपितु ये दार्शनिक तथ्यो का उदघाटन करनेवाले पशु-प्रतीक हैं। इनमे से प्रत्येक के सभी रूपो तथा उनसे सबंधित सभी लेखो के अध्ययन की बडी आवश्यकता है। सिंधुघाटी के पशुओ का यह अध्ययन यदि वैदिक साहित्य मे उल्लिखित पशुओ के साथ तुलना की जावेगी, तो वैदिक व्याख्या पर अभूतपूर्व प्रकाश पडेगा और जो ब्राह्मण-ग्रंथ आज निरर्थक वाग्जाल के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं वे वेदभाष्य के अनुपम ग्रंथ सिद्ध होगे।

अत सिंधुघाटी लिपि को पढने मे अब तक जो सफलता मिली है, उसके आधार पर यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय कला मे अभिव्यक्त होने वाला राष्ट्रीय आत्मा निरंतर एक रहा है। ऋग्वेद के वागम्भृणीसूक्त मे जो 'राष्ट्री' नामक महाशक्ति विविधरूपा अभिव्यक्तियो में प्रकट होती बताई गई है वही उपनिषद् और सिंधुघाटी मे समानरूप से 'परा' संज्ञा ग्रहण करती है। सिंधुघाटी के एक चित्र मे आत्मा को पुरुष-रूप में और पराशक्ति को स्त्रीरूप मे चित्रित किया गया है, इनमें से प्रत्येक अपने हाथ मे अपने अपने नाम का प्रथम वर्ण पकडे हुये हैं—इन्ही अ तथा प वर्णों से मिलकर 'अप' शब्द बनता है जो वेद से लेकर मनुस्मृति तक निरंतर आदिसृष्टि के रूप मे माना गया है—'अप एव ससर्जादौ'। अप का साधारण अर्थ जल है, परन्तु श्वेताश्वतर-उपनिषद के अनुसार वह वस्तुत आत्मा की 'ज्ञानबलक्रिया' का रूपांतर होने से केवल 'ज्ञानमय कर्म' है सिंधुघाटी के उक्त चित्र में इसी 'अप' के द्वारा एक ओर संसार-रूपी वृक्ष के पत्तों आदि का निर्माण होता है और दूसरी ओर उन पत्तों के चरने

---

(१) MFE, Plate XCVIII, Seal 636, plate C, seal A
(२) वही, Plate G, seal A.
(३) वही, Plate XCVIII, seal 606

वाले दो मृगों का। अन्न और अन्नाद की यह द्विविध सृष्टि मोहेनजोदरो के एक दूसरे चित्र में पीपलवृक्षरूप अन्न से सयुक्त दो अजो के रूप में दिखाई गई है और उपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ कर रही है—

> अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा वह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा।
> अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥

वेद और सिंधुघाटी की उक्त पराशक्ति दो रूपो मे अभिव्यक्त होकर आत्मा का आवरण बनती है। प्रथम रूप मे वह प्रकाशमय आवरण है जिसका नाम 'वरुण' है, दूसरे रूप में वह 'वृत्र' नामक अधकारमय आवरण बन जाती है। वरुणरूपी आवरण के प्रभाव से आत्मा तीन ज्योति-पुरुषो में परिणत हो जाता है जिनको क्रमश इद्र, वायु तथा अग्नि कहा गया है। मोहेनजोदरो से प्राप्त एक चित्र में इद्र (आत्मा) शरीररूपी वृक्ष पर बठा हुआ सिंहरूपी वृत्र को एक ऐसे ढके हुये पात्र के पास जाने से रोक रहा है जो 'ब' तथा 'न' वर्णों से मिलकर 'बन' शब्द की आकृति का है। बन-शब्द की तुलना उपनिषद के तद्वनम् से की जा सकती है जो तुरीय ब्रह्म है और जिसको इद्र, वायु, तथा अग्नि में से केवल इद्र ही उमा की सहायता से जान पाता है। मोहेनजोदरो के उक्त चित्र में भी इद्र के साथ उमा का नाम लिखा है और वह वायु एव अग्नि के प्रतीक-स्वरूप दो ऐसे पुरुषों को लडने से रोक रही है जो उक्त शरीररूपी वृक्ष की दो शाखाओ को अस्त्र बनाकर परस्पर लडने के लिये उद्यत हैं। इन दोनो शाखाओं में से प्रत्येक में पाँच पाँच पत्तियाँ हैं जो क्रमश पाँच कर्मेंद्रियो तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियो की प्रतीक हैं। निस्सदेह ये दोनो लडने वाले पुरुष आत्मा के क्रमश कर्ता एव भोक्ता-पक्ष के प्रतीक हैं और इन दोनो की मध्यस्थता करने वाली उमा वही परा शक्ति है। दो अन्य चित्रो मे भी, ये दोनो पुरुष दो व्याघ्रो अथवा सिंहों के रूप में दिखाये गये हैं और उन दानो के बीच मे खडी हुई एक ज्योतिर्मुखी आकृति इन दोनो को लडने से रोक रही है। परन्तु हडप्पा से प्राप्त एक चित्र में ये दोनो सिंह एक साथ नाचते दिखाये गये हैं और एक पुरुष को शिर के बल इस प्रकार उलटा खडा किया गया है कि वह एक सूखे वृक्ष के ठूठ सा दिखाई दे और उसके मूलाधार से प्रस्फुटित होती हुई, चार पत्तियो सहित एक नवीन शाखा बनाई गई है जो छान्दोग्य-उपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ करती है—यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात जायेरन् एव गस्मिन् शाखा प्ररोहेयु पलाशानि—यदि इस सत्य को सूखे ठूठ से भी कह दिया जाय, तो उसमें भी शाखायें पैदा हो जावें और पत्ते निकलने लगें। जिस सत्य का यहाँ उल्लेख

किया गया है वह 'भ्रम' नामक ज्येष्ठ प्राण है, और सिंधुघाटी के उक्त चित्र में भी उक्त पुरुषरूपी वक्ष को 'भ्रमवृक्ष' नाम दिया गया है जो उपर्युक्त चप-नामक ज्ञानमय कर्मजल से सिंचित होकर पल्लवित होता है। इसी 'ज्ञानमय-कर्मजल' की कल्पना व्यक्त करने के लिए कर्म तथा ज्ञान के प्रतीक सिंहद्वय को परस्पर लडने के स्थान पर एक साथ नाचते हुये दिखाया गया है और पुरुषरूपी वृक्ष के हाथो और परो को इस स्थिति मे रक्खा गया है कि शिर को उभयनिष्ठ मानकर दो बार 'जनक' शब्द की रचना हो गई है।

कर्म और ज्ञान के बीच जिस प्रकार भारतीय दर्शन और कला ने समन्वय स्थापित किया है उसी प्रकार वरुण और वृत्र के बीच भी सामजस्य लाने का प्रयत्न मिलता है। इस दृष्टि से आत्मा को ब्राह्मणग्रथो मे सर्वतोमुखी अग्नि कहा गया है और उस के छ मुख बताये गये हैं। मोहेनजोदरो के एक चित्र में एक हृदयाकार 'उखा' नामक वस्तु से छ सग्रीव शिर चारो ओर निकलते हुये दिखाये गये हैं और एक अन्य चित्र मे इन छ के जो नाम दिये गये हैं उनमें से तीन तो ज्योतिमय इद्र, वायु तथा अग्नि देवो के हैं और तीन क्रमश वृत्र, अस तथा अयज-नामक आवरणो के हैं। यही सर्वतोमुखी अग्नि पुराणो के षडानन स्कन्द के रूप में परिणत हो जाता है जो वैदिक अग्नि की भाँति ही देवो का अग्रणी और सेनानी माना जाता है। इसी समन्वय को व्यक्त करने के लिये सिंधुघाटी के एक चित्र में पुच्छ और पिछले परो सहित आधा धड चीते का बनाकर उसके अगले पैरो पर एक पुरुष बनाया गया है जिसके शिर मेढे के दो सीग बनाये गये हैं और उनके नीचे निकलता हुआ एक तीर है जिसके नीचे उसका एक हाथ दण्डाकार में परिणत हो गया और दूसरा हाथ आगे को उठा हुआ दिखाया गया है। मोहेनजोदरो की खुदाई के निम्नतरस्तर-प्राप्त एक मुद्राचित्र मे सिंहरूपी वृत्र एक 'प' वर्ण की आकृति के सामने चुपचाप खडा है। यह 'प' वर्ण, जसा कि पहले कहा जा चुका है, उसी पराशक्ति का प्रतीक है जो वेद मे राष्ट्रीवाक्, आगमो में त्रिपुरसुदरी तथा पुराणों में जगदम्बा के रूप में दिखाई पडती है। अत जो सिंह अन्य चित्रो में शरीररूपी वृक्ष अथवा आत्मारूपी वन को क्षति पहुचाने के लिये प्रयत्नशील दिखाई पडता है उसका यहाँ 'प' वर्ण के सामने शान्त हो जाना स्पष्ट बतलाता है, वह पराशक्ति की अधीनता स्वीकार कर चुका है। इसी कल्पना को लेकर, परवर्ती काल में सिंह को देवी का वाहन बना दिया गया। सिंधुघाटी के एक मुद्राचित्र में विचित्र पशु सिंह के ऊपर बनाया गया है और उस पर 'अपच य' वर्ण लिखा

हुआ है जिसका अर्थ है कि इस प्रतीक के अन्तर्गत वृत्र के पचवर्णो रहित 'यज्ञ' अभीष्ट है। इसी प्रकार एक अन्य चित्र मे दण्डाकार 'अ' वर्णसदृश तने वाले वृक्ष की सभी पत्तियो से 'अन' शब्द की आकृति बनती हुई दिखाई गई है और उस वृक्ष के नीचे खडा हुआ सिह उस वृक्ष पर स्थित पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गई एक पत्ती के लिए मुख फैला रहा है। इस चित्र के ऊपर जो लेख है उसमें 'अग्नि, अप, वृत्र तथा ग्यारह अन्नो का समावेश व्यक्त किया गया है।

वरुणत्व और वृत्रत्व के बीच यह समन्वय भारतीय दर्शन मे आवश्यक माना गया है, क्योकि इसके अभाव मे अमृत की प्राप्ति नही होसकती। इसीलिए समुद्र-मथन देवो और असुरो के सहयोग से ही सभव हुआ और इसी के परिणाम-स्वरूप अमृत-समेत चौदह रत्नो की प्राप्ति हुई। परन्तु देवो और असुरो का यह सहयोग नही रह सका, क्योकि दोनो मे त्याग-बुद्धि का अभाव था जिसके परिणाम-स्वरूप दोनो मे लोभ और क्रोध ने घर किया। देवो की ओर से, ऋग्वेद में शृगवृष प्रजापति का कुडपायी पुत्र इन्द्र वृषभ उत्पात करने लगा और उनके शत्रुओ की ओर से शबर, शुष्ण आदि अपना पौरुष दिखाने लगे। सिंधुघाटी मे एक ओर शृगवृष के कुडपायी पुत्र को एक रौद्ररसावतार वृषभ के रूप मे चित्रित किया गया जिसके सामने सदा एक कुड सा रक्खा रहता है और दूसरी ओर एक दीर्घशृग महिष की सृष्टि की गई जिसकी ध्वस-क्रिया के चित्रो को देख कर पौराणिक महिषासुर की याद आ जाती है। बौद्धदर्शन में मार और जैनदर्शन मे मोह इसी प्रकार की वत्रशक्ति का प्रतीक बनकर आत्मा की साधना मे बाधा डालता है, वैदिक और सिंधुघाटी की परम्परा मे देहरूपी वृक्ष के निवासी आत्मा को तग करने के लिए व्याघ्ररूपी वृत्र तुला हुआ है।

भारतीय दर्शन के सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस समस्या का समाधान क्या हो? वेदो ने इसका हल ब्रह्म-विजय में देखा, जैन दर्शन ने मोहराज पराजय द्वारा आत्मा को जिन बनाने का लक्ष्य रक्खा, बौद्धो ने 'मार', शवो ने 'त्रिपुर' अथवा मदन को ध्वस्त करना आवश्यक माना और वैष्णवो ने असुरो अथवा राक्षसो के विनाश की योजना बनाई परन्तु प्रश्न ज्यो का त्यो रहा, इस विजय का क्या रूप हो और यह कैसे प्राप्त हो? सब का उत्तर एक था—विजय का अर्थ शत्रु का सपूर्ण तथा सर्वकालिक विनाश नही है, क्यो कि ऐसा सभव नही। चाहे इद्र-वृत्र-सघर्ष हो और अथवा देवासुर-सग्राम, कभी वृत्रों अथवा असुरो का सर्वनाश नही हो पाया, हो भी कैसे? वस्तुत दोनो ही उसी पराशक्ति के दो पक्ष हैं जो आत्मा की 'ज्ञानबलक्रिया' कही गई है। अत वेद से

लेकर अब तक, भारतीय दर्शन ने एक ही उपाय सुझाया, वह है योग—ऋग्वेद की भाषा मे वह छन्दसां योग या जिष्णु योग है, उपनिषदो मे उसी को प्रणवोपासना कहा गया है जिसमें प्रणवरूपी धनुष पर रखकर आत्मारूपी तीर से ब्रह्म को वेधा जाता है .—

प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्ध व्य शरवत्तन्मयो भवेत् ।

इसी योग में, शक्ति और शक्तिमान्, देव और असुर, ज्ञान और कर्म तथा व्यष्टि और समष्टि आदि सभी द्वन्द्वो की समाप्ति होकर एक संश्लिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है जिसे उपनिषद् की भाषा में दीपोपम आत्मतत्त्व कहा गया है और सिंधुघाटी के अनेक चित्रो में दीपाकृति में रक्खी हुई अग्नि-शिखा के रूप में प्राप्त है। यही शिव का ज्योतिर्लिङ्ग है और यही है वेदी पर स्थित यज्ञीय अग्नि। यही उस बोध का प्रतीक है जिसके विषय में कथन है :—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमय सुत. ।

सिन्धुघाटी के कुछ मुद्रालेख

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
1	MIC, 19	अत्रि अग्निमान अन
2	MEH, XCVII, 532	नामरूप अनाश्र
3	,, XCVIII, 599	(स्थूल)अन्नाऽग्नि अनाम्र अकार और उकार धारण करने वाला इन्द्र (सूक्ष्म) अन्न
4	,, XCVI 442	अम = इन्दुवृत्रमारत्राग्नि
5	,, ,, 474	अमा = मनना
6	,, XCVII, 539	उ = मा
7.	MFE, XC, 23 a	सा इ द्रा उमा
8	MFE, XC, 23 b, 24 b	वनम्
9	MFE, CI, 15	१—मन व (वरुण) अप २—अन-अन-अन व (वरुण) अत्रि
10	MIC, CXII, 385	वृत्र वपट
11	आकृति, ४६	हिमदक्षवृत्रसमुद्रद्वयअन मा
12	MIC, CX, 279	वत्रजस्न
13	,, CXVII, 2	वृत्र अन (स्थूल), अन (अर्द्धस्थूल) अन (सूक्ष्म)
14	,, ,, 1	वृत्रप्राण अ (अन?)
15	,, ,, 3	वृत्रपचमना उष्ट्रमान
16	,, CXI, 357	अना नस्तेन नमति
17	,, ,, 355	वृत्र अ न मन
18	MEH, XCIII, 306	वृत्र अनाग्न अवर्णत्रय (स्थूल)
19	,, ,, 318	अपच वृत्र यस्न
20	,, XCII, 273	
21	,, ,, 282	वृत्रपापन्
22	,, ,, 276	
23	,, ,, 284	ऋत्रपाप
24	MIC, CXVII, 7	वृत्रमल
25	,, ,, 8	
26	,, ,, 12	वृत्रवरुण मख, अनानमन सप्तधा
27	,, CXVIII, 4	
28	,, XCIII, 9	
29	MFE, XCIX, 673	पचधा विभक्त प (परा)

क्रमाङ्क		मुद्रा	मुद्रालेख
30	MFE	plate C, seal D	द्विधाविभक्त प (परा)
31	„	XCIII, 14	वत्र रप ईश अवण अवणजय यश
32	MIC	CXVIII, seal 9	अवणत्रय अनाऽनद्वय म (मन)
33	„	CXII, 382	सप्तात्रि
34.	MFE,	LXXXIII, 24	अग्नि अन द्वय सप्ता नमनद्वय दमनाग्निद्वय
35	MIC,	CXVIII, 12 b	वायु
36	MFE,	CI, 12-a	यज्ञीय वा (वायु)
37	„	„ 1 b	अत्र्यात्रि
38	„	„ 12 c	इदुवृत्र
39	„	„ 8-a	वत्र द्राग्नि
40	„	„ 13 a	अघ (मृग)
41	„	„ 11 a	मना नागद्वय वृत्र-अप द्वय
42	„	„ 11 b	वरुणवत्र
43	„	„ 14 b	पत्रि अग्नि
44	„	„ 4 a	शत अन
45	„	„ 5	अनाग्निबल
46	„	„ 2 c	राष्ट्रमनबल–पा
47	„	„ 7 a	वत्रेंदुमित्र, नागद्वयसप्त-मनाऽन, अ न १ अन वृत्र
48	„	„ 7 b	अवणद्वय (सूक्ष्म), अवणद्वय (स्थूल) रुद्रवन मदवान् वृन्देन्दु
49	„	„ 7 c	उकारत्रय, मदवान् अपद्वय, वृत्रजनाग्न मा (रमा)
50	„	„ 12 c	} इदुवत्रमत
51	MIC,	CXVIII, 12 a	
52	MEH,	XCIII, 314	उकार अना न, वत्रद्वयाग्निन् अन
53	MIC,	CXII, 387 (चा० ८)	एकत्रित पत्रि अग्नि, एकादश अ न
54	MEH,	XCIII, 307	उकारत्रयाग्न अदन
55	„	„ 312	वृत्रजदनाग्न अग्नि
56	„	„ 320	रविनेन्द्रजदन जन
57	MIC,	CXII, 378 (चा० २८)	वत्रहन् या वत्रहा
58	„	CIX, (चा० २७)	

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
59	MFE, XXVIII, 641 (प्रा० ३१)	एकादश, अध्यष वायु, अवज अग्नि, वृत्र इ दु
60	MEH, XCIII, 305 (प्रा० ३३)	क, वृत्र
61	MFE, CI, 15, a-b	वृत्रद्वय त्रिवत मकार
62	MEH, XCI, 25 (प्रा० ३६)	घ (घ्राण), र (रसना), च (चक्षु), त (त्वक्), व (वाक्), श्र (श्रोत्र), म (मन)
63	MFE, XCIX, 663 (प्रा० ४७)	त्रिवृत इदु, एकत्रित
64	MFE, LXXXVII, 222 (प्रा० ५०)	उकारद्वयाग्नि, एकादश अश्व
65	MIC, XII, 17	वृत्राग्निगुनौ प्राणाश्वौ इ दू
66	MFE, XCIV, 420	वृत्राग्निगुनौ प्राणाश्वौ इ दू
67	MEH, XCIII, 318	अपच वृत्र वपट्
68	,, XCIV, 341	सवपन मन असि द्यु
69	MFE, XCVII, 590	मन अग्निन् मन
70	,, ,, 573	वत्र वपट मन मान
71	,, XCIX 648	हस्तिमान अन
72	,, CII, 15 a b	शाता न
73	,, ,, 14 a b	असि-श्रम एकादश म न
74	, XCVII, 587	इ द्रवत्राग्निषडा न
75	,, LXXXVIII, 310	मन १
76	,, LXXXV, 153	चतुरग्नि
77	,, LXXXVIII, 322	चतुर्विध अग्नि
78	,, LXXXV, 108	हिंधु मानन इद्र
79	MEH, XCIII, 325	से द्रवत्र ऐ द्रमैत्र
80	MFE, LXXXV, 121	वत्रसे द्र (इद्र) एकादश
81	,, XCVIII, 611	इन द्रावरुण
82	,, LXXXVIII, 283	चत्रवपट इन्द्र अन राष्ट्र
83	,, XCVI, 518	मननवृत्रजहनवृता न
84	,, LXXXV, 129	शत अश्वानि द्वादशाग्नि-मारत्र राष्ट्र
85	,, LXXXV, 142	शत म नानि
86	MIC, CX, 3·9	शता नवत् नाम मरत्र
87	MEH, XCI, 227	मित्राश्वसरिर मावत्र एकादश

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
88	MFE, LXXXIX, 362	अना राष्ट्र
89	MEH, ,, 124	वृत्र राष्ट्र
90	,, ,, 110	वृत्रजन एकादशवरुण
91	,, ,, 146	वृत्रएकादश
92	,, ,, 145	वृत्रसेन्द्रएकादशो
93	,, ,, 139	वृत्रसीमाएकादश
94	,, XCI, 241	वृत्रसेन्द्राग्निरग्निवृत्रजने द्र
95	,, LXXXVIII, 93	वृत्रएकादशी
96	,, ,, 87	वृत्रन् नर मन-राष्ट्रदान
97	,, ,, 78	वृत्रएकादशाग्नि एक म न
98	,, ,, 166	वृत्रमानवपानपा
99	,, LXXXVII, 89	इरा
100	,, XCI, 233	मनदमा
101	,, XCI, 236	मत्र
102	,, ,, 235	सेन्द्र
103	,, ,, 235	वृत्रेन्द्रमत्र
104	,, ,, 240	वृमा व ३
105	,, ,, 256	मन अग्नि ६ मन नद
106	,, ,, 260	धाता नानि इदुवा मम
107	,, XC, 220	मन-मशन-अग्निन्
108	,, ,, 168	इद्रहत्राग्नि १
109	,, ,, 171	अग्नि षट्
110	,, 181	वृत्राहा
111	,, 211	मन नाना एक
112	,, 212	मन
113	MIC, CIII, 10	वृम
114	,, CXVI, 2	वृमाग्नि इदु
115	,, CXI 334	वृम १२ इन्द्रन मन
116	,, CXV, 550	वृमषपद् अग्नि
117	,, CV, 58	वृमन जशनन् ईश अपोनपा
118	,, CXV, 548	नमन वृम मम
119	,, ,, 551	ममाग्नि वृम्मन
120	,, ,, 557	वृत्र वष्ट्रमाना मानाग्नि ममाग्नि
121	,, ,, 553	म वष्ट्रमाना वृत्राग्निन् मम इदुपा

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
122	MIC.	CVX,	554	एकत्रित अत्रि अग्निन् मन
123	,,	,,	547	अम्न
124	,,	,,	542	द्वितचतुष्टय द्वितचतुष्टय अम्नानि
125	,,	,,	543	अत्रि अग्नि मित्र ११ अम्न
126	,,	,,	544	अनाग्निरग्नितामाभीम
127	,,	,,	557b	अपापन जश्न नमन
128.	MEH,	XCVII,	540	वना
129	,,	,,	517	नग्न, वृत्रद्वय मन
130	,,	,,	497	वृत्रेन्द्राग्नि, मु
131	,,	,,	502	अवर, उम्
132	,,	,,	505	अनाम्न
133	,,	,,	506	वरुण म, अम
134	,,	,,	561	११ अम्न
135	,,	,,	551	अत्रि अग्नि
136	,,	,,	499	एकादश अम्नाग्नि
137	,,	,,	501	सोऽग्नि (?), उमा
138	,,	,,	542	त्रिवृत्र जश्न
139	,,	,,	543	सवृत्र जश्न
140	,,	,,	521	अपद्वय अन, अनाग्नि
141	,,	,,	575	व(रुण) जश्न, उम् अप अप-अप
142	,,	,,	580	अग्नि मन अम्न, उ अपद्वय व(रुण),अप-अपा
143	,,	,,	573	स वै अन्नाग्नि द्वादशाम्नानि, क्षमा दा अम्नद
144	,,	,,	576	वृत्रवरुणअम्नाग्नि, उमा, अग्नि
145	,,	,,	561	एकादश अम्ना
146	,,	,,	563	सवृत्र अनाम्न अष्ट
147	,,	,,	547	सेन्द्र
148	,,	,,	577	अनग्न उ अन अप (वामावत लिपि मे भी) उमा
149	,,	,,	504	स-अभ्र अन जन
150	,,	,,	499	एकादश अम्नाग्नि, ऊन
151	,,	,,	566	उपा, उ १
152	,,	,,	557	३ पाप, न
153	,,	,,	546	वृत्राग्नि, उ
154	,,	,,	549	यामन नरतरमन

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
155	MEH, XCVII, 544			अनाग्निा, उमा
156	„	„	545	वरुण, उमा
157	„	LXXXVIII, 95		नराश्नना
158	„	„	89	इरा
159	„	„	74	वृमशमनम्
160	„	„	102	वृत्र द्रयश्न
161.	„	LXXXIX, 125		नानादवाग्नि
162	„	„	129	अत्रिजन
163	„	„	137	वृत्रसेन्द्र एकादश
164	„	„	144	पानपा इद्र
165	„	„	145	वृत्रसे द्रवृत्रएकादशी
166	„	„	146	वृत्र एकादश
167	„	„	148	रूस उमा
168	„	„	149	अत्रि अग्नि
169	„	„	141	इद्रवृताग्निनानाशिप्र
170	„	„	147	वृतभर
171	„	„	165	सीमन्
172	„	„	166	वृत्रमानसपापा
173.	„	XC, 168		इद्रवृत्राग्नि
174	„	XCI, 233		अनदमा
175	„	„	231	षा उ
176	„	„	236	मैत्र
177	„	„	241	वृत्रसेन्द्राग्निरग्निवत्रजन सेन्द्र
178	„	„	230	अत्रिमना पीनवरुण
179	„	„	260	असि अशा न इदुधा अम
180	„	„	254	वृत्रयधाग्नि मत्र असि अन अप नवपा
181	MIC, CXIII, 409			ईश अवरुणश्याग्नि
182	„	„	410	ईनानात्रि इद्र
183	„	„	414	वृत्रद्वादशम् उमाग्नि
184	„	„	415	वत्रवषट् द्वादशाग्नि
185	„	„	424	मम अष्टेन्द्रार मन
186	„	„	425	ईनाशम उ चतुरग्नि
187	„	„	430	वृत्र ईश अम असि न अग्न
188	„	„	435	सग वत्र ममाना अग्न

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
189	MIC, CXIII, 440	गम वृत्र खग
190	,, ,, 436	ऋत्रपापन् असि अवसा न अ॰न
191	,, ,, 437	मम चतुर्विंशति इद्ध (वृद्ध)
192	,, ,, 438	वृत्र अश्मासद् वषट्सद् जशन १ अ॰न
193	,, ,, 439	ईश नाना एकऋण्ण
194	,, ,, 453	रमा
195	,, ,, 460	वृत्ररमा
196	,, ,, 459	वृत्र द-द द दासवृत्र
197	,, , 444	नर सप्तत्रित चतुर्मकर अन्न
198	,, ,, 445	असि एकादश अ॰नानि
199	,, ,, 446	वृत्रवसमा
200	,, ,, 447	असि अ नाग्नि (सूक्ष्म) अग्नि अन्ना (स्थूल)
201	,, ,, 448	ईश्वर अवृत्रगमा
202	, ,, 449	स नते द्रप
203	,, ,, 451	ईशमना न अन
204	,, , 456	स अ नानी अवाग्नि न मन
205	,, ,, 457	अत्रि कि नर वृत्रद्वय द्वादशमास
206	,, ,, 461	नागद्वय यत्रद्वय अन
207	,, ,, 462	असि वृत्र अरनर
208	, , 463	अग्नि अ न उमा
209	,, ,, 464	वृत्रपापन् अवपट्टा यश उमा
210	,, ,, 465	वृत्रमानन् अन
211	,, ,, 466	वृत्रमान दास न अन
212	,, ,, 470	वृत्र त्रिताग्नि न अग्नि द्वादश
213	,, ,, 467	ईश अवणत्रय (स्थूल) अग्नि असि
214	,, ,, 468	वत्रेंद्राग्नि, अग्नि अना न, न अ न
215	,, ,, 469	वृत्र द्रमित्र वृत्रत्रय अरनर
216	,, CXIV, 472	अरम
217	,, ,, 475	वत्रमानस पान प जशन
218	,, ,, 471	पञ्च यमा नक्रभ्रम
219	,, ,, 476	} द्विवमन उकारद्वय
220	,, ,, 477	}
221	,, ,, 479	स पत्रि अ॰न
222	,, ,, 480	अग्नि (चतुर्दिक)

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
223	MIC	CXIV	481	उमा
224	„	„	482	इद्रा
225	„	„	483	इदु इद्र
226	„	„	484	अग्नि
227	„	„	487	वृत्रजश्न
228	„	„	488	वृत्रवपट्
229	„	„	490	वृत्र अग्ना न
230	„	„	493	ईशमना, न अन
231	„	„	526b	वृत्र द द द दास
232	„	„	528b	क
233	„	„	529	सवृत्र अवरुत्रय (स्थूल) त्र्याग्नि, अग्नित्रय अवरुत्रय वृत्रसा।
234	„	„	530	...
235	„	„	531	शताग्नि अश पात व (रुण) अश
236.	„	„	532	परापर-अन १ इद्रा उमा (वामवत लिपि)
237	„	„	499	वृत्रनागद्वय
238	„	CXVI,	16	त्रिवृत्रे द्रमित्राग्नित्रय त्रिजश्न नागे द्र नागत्रय
239	„	„	20	सवत्र असि
240	„	„	15	सहत्र ईश अमाग्नि असि
241	„	„	10	राष्ट्राग्नि
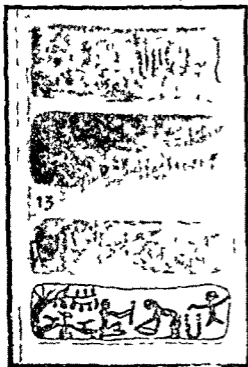
2—MFEM Pl XC 13 a,b,c

12—MIC Vol I XII 14
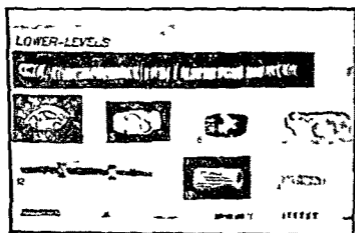
3—MFEM Pl CXI 1
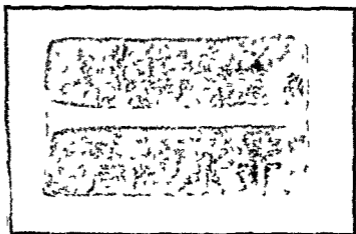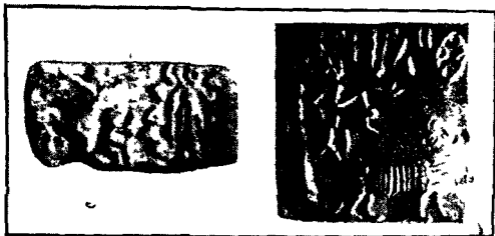
1—MIC Vol I Pl XII 19

6—MFEM XCVI 522

7—MIC. Vol III CXII 385

10—MFEM CI 15 a,b

8—MIC. CXII, 387

11—MIC Vol I XII 13.

5—MFEM, XC 23, a b

9—MFEM, CIV, 10, 11
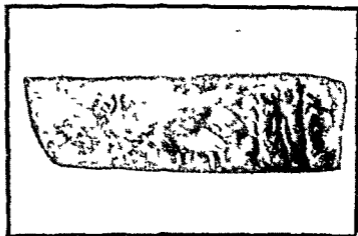
13—MIC, Vol I, Pl XII 22

14—MIC Vol III Pl CV 46 15—MIC Vol III Pl CV 66
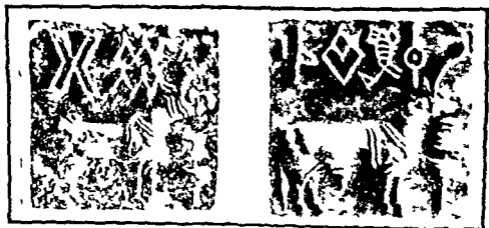
16—MIC Vol III Pl CVI 102 17—MIC Vol III Pl CV 67

19—MIC Vol III Pl CV 65 18—MIC Vol. III Pl CV 69

20—MIC Vol III Pl CV 59

21—MIC Vol III, Pl CV 61
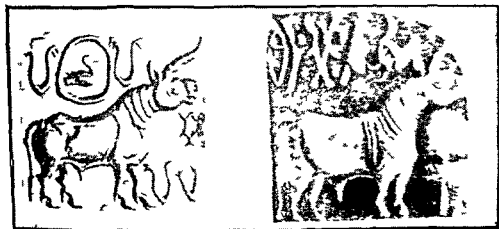
22—MIC Vol III Pl CVI 93

23—MIC Vol III, Pl CIV, 36

26—MIC Vol III, Pl CIX, 221

27—MIC Vol III, Pl CIX, 252

28—MIC Vol III, Pl CXII, 378

29—MIC Vol III Pl CXII 383

30—MIC, Vol III, Pl CXII, 382

31—MFEM Pl XCVIII, 641
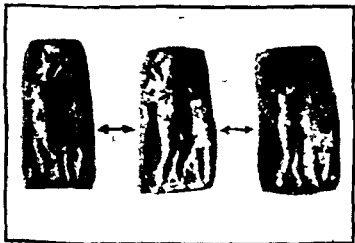
33—MEH, Pl XCIII 305
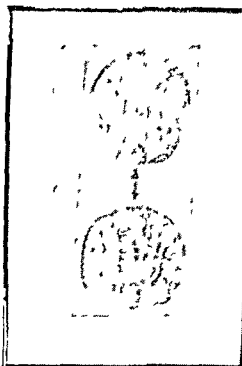
37—MEH Pl XCIII, 317
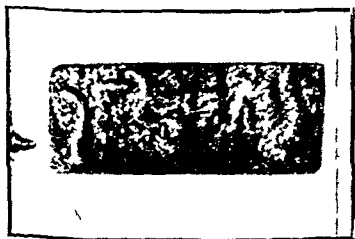
34—MFEM Pl CIII, 9

24—MIC Vol III, Pl CX, 274 25—MIC Vol III, Pl CVIII 167

39—MEH, Pl XCI, 251
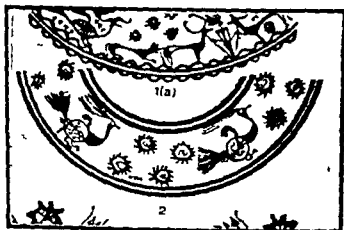
40—MEH Pl LXII, 2
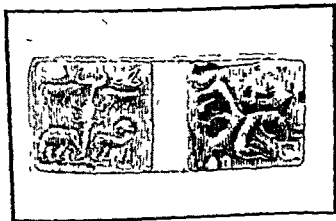
41—MFEM Pl XCII, 10

42—MFEM, Pl C III, 16
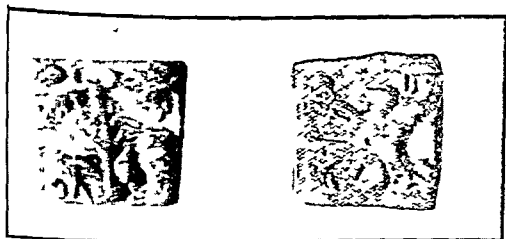
44—MFEM, Pl XCI 12

43/1—MFEM, Pl XCII, 2 a

43/2—MFEM Pl XCII, 2b

45—MFEM Pl XCVI 510

46—MFEM Pl C, E
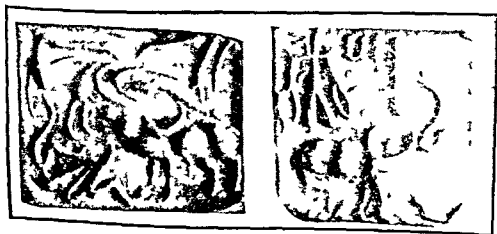
50—MFEM Pl LXXXVII 222

51—MFEM, Pl C, F
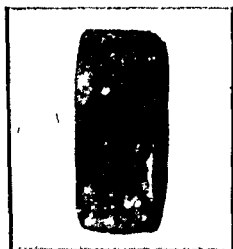
52—MEH Pl XCIII, 318
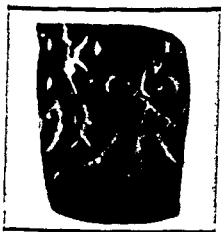
53—MFEM, Pl LXXXVII, 235

54—MFEM Pl XCVII, 554

55—MFEM Pl XCVIII 628
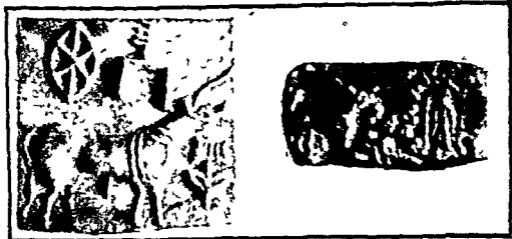
32—MFEM, Fl XCVI, 530

36—MEH, Pl XCIII 316

38—MFEM, Pl XCIX A
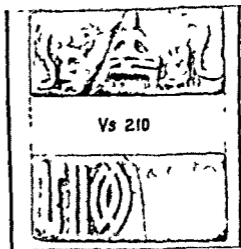
35—MIC Vol III Pl CXVIII, vs 210

47—MFEM Pl XCIX 663

48—MFEM, Pl LXXXVIII, 279

49—MFEM, Pl XCI 24

56—MFEM, Pl LXXXIV, 101

57—MFEM, Pl XCV, 468